ओ३म्

न्यायदर्शन भाषानुवाद



प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयव-तर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजाति निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः॥१॥

प्रमाण, प्रमेय, संशय प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान, इन सोलह १६ पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है ॥

इन १६ पदार्थों के लक्षण आप ही शास्त्रकार ने आगे लिखे हैं। देखो १६ सूत्र ३, ९, २३, २४, २५, २६, ३२, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ५१, ५९ और ६० इन में क्रम से १६ पदार्थों के लक्षण हैं ॥

क्या तत्त्वज्ञान के अनन्तर अर्थात् जो ही तत्त्वज्ञान हुआ और मोक्ष है? नहीं तो फिर तत्त्वज्ञान से क्रम से क्या २ होता है?

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥ २ ॥

दुःख, प्रवृत्ति और दोष के अर्थ क्रम से आगे सूत्र २१, १७ और १८ में आये हैं। जन्म=देह धारना है। इन के उत्तरोत्तर नाश होने पर जैसे कि-तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होता है, उस से दोषों का अभाव, दोषाऽभाव से प्रवृत्ति की निवृत्ति, उस से जन्म का दूर होना, उस के न होने से सब दुःखो का नाश; बस दुःख का अत्यन्त नाश ही मोक्ष है ॥

जब तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान दूर हुआ तब दोष नष्ट होते हैं। दोषों के नाश से प्रवृत्ति नहीं होती और प्रवृत्ति के रुकजाने से जन्म नहीं होता। बस सब दुःखो के अत्यन्त अभाव को ही अपवर्ग निःश्रेयस और मोक्ष कहते हैं॥

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ॥ ३ ॥

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये (चार) प्रमाण हैं॥ इन के लक्षण ग्रन्थकार ने आगे ही किये हैं कि–

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यम-
व्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥ ४ ॥

इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं जिस का नाम न रख सकें जो अटल यथार्थ और निश्चयरूप हो।

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टञ्च ॥ ५ ॥

(साध्य साधन के संबन्ध देखने से जो ज्ञान होता है उसे अनुमान क
हैं, अनुमान से जो सिद्ध होता है उसे साध्य और जिस के द्वारा साध्य जा
जाय उसे साधन कहते हैं। इन्हीं को लिङ्गी और लिङ्ग भी कहते हैं। जैसे धू
को जहां २ देखा वहां २ अग्नि को भी देखने से ज्ञात हुआ कि धूम बिना अ
के नहीं रहता। इसी ज्ञान को व्याप्ति ज्ञान कहते हैं, व्याप्य–अधिकरण में व्या
का नियम से रहना व्याप्ति है। अधिक देश में जो रहे वह व्यापक, जैसे ज
धूम रहता है वहां अग्नि अवश्य रहता है और जहां धूम नहीं रहता वहां
रहता है जैसे तपाये हुए लोह के गोले में अग्नि रहता है पर धूम नहीं इस लि
अग्नि व्यापक और धूम व्याप्य है क्योंकि अग्नि के अभाव में नहीं रहता
अल्प देश में रहने से व्याप्य कहाता है फिर कहीं केवल धूम के देखने
अग्नि का ज्ञान होता है इसी को अनुमान कहते हैं। यहां अग्नि सा
और धूम को साधन समझना चाहिये) अब प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान ती
प्रकार का है–१ पूर्ववत् २ शेषवत् और ३ सामान्यतोदृष्ट। जहां कारण से कार्य
अनुमान होता है उसे "पूर्ववत्" कहते हैं। जैसे बादलों के उठने से हो
वाली वर्षा का अनुमान। क्योंकि बादलों का होना वर्षा का कारण औ
वर्षा कार्य है। इस से उलटे अर्थात् कार्य से कारण के अनुमान को "शे
वत्" कहते हैं जैसे नदी के चढ़ाव से प्रथम हुई वृष्टि का अनुमान। नदी
चढ़ना वर्षा का कार्य है। अन्यत्र बार २ देखने से अप्रत्यक्ष दूसरे के अ
मान को "सामान्यतोदृष्ट" कहते हैं। जैसे कोई पदार्थ बिना क्रिया के एक स्था
से दूसरे स्थान पर जा नहीं सकता। यह कई बार देखने से सिद्ध हो गया

फिर देवदत्त को एक स्थान छोड़ कर दूसरे स्थान में देख कर उस की गति का अनुमान करना इस को "सामान्यतोदृष्ट" कहते हैं ॥

प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् ॥ ६ ॥

प्रसिद्ध पदार्थ के सादृश्य से साध्य के साधने को उपमान कहते हैं। (जैसे किसी मनुष्य को नीलगाय शब्द का अर्थ ज्ञात न था, उस ने किसी से न लिया कि जैसी गाय होती है वैसा ही नीलगाय होता है । फिर कभी न में नीलगाय देख पड़ा, उसे देखते ही "गाय के सदृश नीलगाय होता है" स बात का स्मरण होते ही उस को नीलगाय नाम और यह गौ के सदृश ह उस का अर्थ है । यह ज्ञान उत्पन्न होता है । संज्ञा और उस के अर्थ के म्बन्ध का ज्ञान होना उपमान प्रमाण का फल है) ॥

आप्तोपदेशः शब्दः ॥ ७ ॥

आप्त के उपदेश को शब्द कहते है । (अर्थ के साक्षात्कार करने वाले का ाम आप्त है)॥

स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात् ॥ ८ ॥

वह शब्द प्रमाण दो प्रकार का है-एक दृष्टार्थ दूसरा अदृष्टार्थ । (जिस ाब्द का अर्थ इस लोक मे देख पड़े वह दृष्टार्थ, और जिस का अर्थ प्रत्यक्ष । प्रतीत न हो, जैसे-ईश्वर इत्यादि, वह अदृष्टार्थ है) । प्रमाणों का विभाग ूरा हुआ, अब प्रमेयो का विभाग लिखते हैं कि.—

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोष-प्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ॥ ९ ॥

आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, ुःख और अपवर्ग ये १२ प्रमेय हैं । आत्मा आदि के लक्षण क्रम से कहते हैं । आत्मा प्रत्यक्ष देख नहीं पड़ता तो क्या केवल प्रामाणिक लोगो के कहने ात्र से जाना जाता है ? नहीं अनुमान से भी आत्मा का ज्ञान होता है । इसी का उपपादन अगले सूत्र से करते हैं कि—

इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख ज्ञानान्यात्मनोलिङ्गम्॥ १० ॥

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान; आत्मा के लिङ्ग (साधक) हैं । जिस वस्तु के सम्बन्ध से आत्मा सुख पाता है उस वस्तु को देख कर लेने की

इच्छा करता है। यह इच्छा अनेक पदार्थों के देखने वाले किसी एक द्रष्टा को ध्यान से होती है इस लिये आत्मा की साधक है। अनेक अर्थों का अनुभव करने वाला कोई एक है। जिस अर्थ के संयोग से दुःख पाता है उन से द्वेष करता है, जो वस्तु सुख का साधन है उसे देखने का प्रयत्न करता है। यह अनेक अर्थों के एक द्रष्टा के बिना नहीं हो सकता। सुख और दुःख के स्मरण से यह उस के साधन को ग्रहण करता है। सुख और दुःख को पाता है। जानने की इच्छा करता हुआ विचारता है कि यह क्या वस्तु है फिर विचार से जान लेता है कि यह अमुक वस्तु है। यह ज्ञान आत्मा का लिङ्ग है) ॥

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् ॥ ११ ॥

क्रिया, इन्द्रियें और अर्थ, इन के आश्रय को शरीर कहते हैं ॥

घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः ॥ १२ ॥

घ्राण, रसना, चक्षु, त्वचा और कर्ण; ये पांच इन्द्रियें पञ्चभूतों से उत्पन्न हुई हैं ॥

पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति भूतानि ॥१३॥

पृथिवी जल अग्नि वायु और आकाश, ये भूत कहाते (और ये ही इन्द्रियों के कारण) हैं ॥

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः ॥ १४ ॥

गन्ध रस रूप, स्पर्श और शब्द ये पांच पृथिवी आदि पञ्चभूतों के गुण और घ्राण आदि इन्द्रियों के विषय हैं ॥

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ॥ १५ ॥

बुद्धि, उपलब्धि ज्ञान, ये समानार्थक (पर्याय) शब्द हैं ॥

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ॥१६॥

(घ्राण आदि इन्द्रियों का गन्धादि अपने २ विषयों के साथ सम्बन्ध रहते भी एक ही समय अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते, इस से अनुमान होता है कि उन २ इन्द्रिय का कोई दूसरा सहकारी कारण है। जिस के संयोग से ज्ञान होता है और जिस के संयोग न रहने से ज्ञान नहीं होता। इसी का नाम मन है मन के संयोग की अपेक्षा न करके केवल इन्द्रियों और विषयों के संयोग ही को ज्ञान का कारण मानें तो एक संग अनेक ज्ञान होने चाहियें और यह अनुभव के विरुद्ध है इस लिये) एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न न होना मन की पहचान है ॥

प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भ इति ॥ १७ ॥

वाणी, बुद्धि और शरीर से काम करने को प्रवृत्ति कहते हैं ॥

प्रवर्तनालक्षणा दोषाः ॥ १८ ॥

प्रवृत्ति के कारण दोष हैं। (राग द्वेष और मोह को दोष कहते है यही तीनों जीव की प्रवृत्ति कराते है) ॥

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ॥१९॥

मरकर फिर जन्म लेने को 'प्रेत्यभाव" कहते है ॥

प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम् ॥२०॥

प्रवृत्ति (देखो सूत्र १७।१८) और दोषो से उत्पन्न अर्थ को "फल" कहते हैं ॥

बाधनालक्षणं दुःखमिति ॥ २१ ॥

बाधना (पीड़ा) से मिला (जो प्रतिकूल जान पड़े) दुःख है ॥

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥२२॥

उस दु ख से अत्यन्त (बिलकुल) विमुक्ति का नाम अपवर्ग (मोक्ष) है ॥

अब संशय का लक्षण करते है —

समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुप-लब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः॥२३॥

१– (दूर से सूखा वृक्ष देख कर उस मे स्थाणु और पुरुष के ऊंचाई और मोटापन समान धर्म देखता हुआ पहिले जो विशेष धर्म देखे थे अर्थात् पुरुष में हाथ पांव और ठूठे वृक्ष में घोसला आदि उन को जानने की इच्छा करना कि यह क्या वस्तु है, स्थाणु है वा पुरुष ? इन में से एक का भी निश्चय नहीं कर सकना इस अनिश्चयरूप ज्ञान को सशय कहते है ॥

२–विप्रतिपत्ति अर्थात् परस्परविरोधी पदार्थों के सहभाव देखने से भी सशय होता है। जैसे–एक कहता है कि आत्मा है, दूसरा कहता है कि नहीं। सत्ता और असत्ता एकत्र रह नहीं सकी और दो में से एक का निश्चय कराने वाला कोई हेतु मिलता नहीं वहा तत्त्व का निश्चय न होना संशय है ॥

३–उपलब्धि की अव्यवस्था से भी संशय होता है। जैसे सत्यजल तालाव आदि में और असत्यजल किरणो में। ऐसे ही—

४ अनुपलब्धि की अव्यवस्था से भी संदेह होता है। पहिले लक्षण में तुल्य अनेक धर्म ज्ञेय वस्तु में हैं और उपलब्धि अनुपलब्धि से जानने वाले में हैं इतनी १।२ से ३।४ में विशेषता है॥

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत् प्रयोजनम् ॥ २४ ॥

जिस अर्थ को पाने योग्य वा त्यागने योग्य निश्चय करके प्राप्ति वा त्याग का उपाय करें उस (अर्थ) को "प्रयोजन" कहते हैं॥

लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः ॥२५॥

लौकिक (साधारण लोग जो शास्त्र नहीं पढ़े) और परीक्षक (जो प्रमाणों से अर्थ की परीक्षा कर सकें) इन दोनों के ज्ञान की समता (जिस वस्तु को लौकिक जैसा समझते हों परीक्षक, भी उस को वैसा ही जानते हों इस)का नाम दृष्टान्त है ।

तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः ॥२६॥

तन्त्र (शास्त्र) के अर्थ की संस्थिति (निश्चय किये अर्थ) को सिद्धान्त कहते हैं।

सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात् ॥२७॥

वह सिद्धान्त चार प्रकार का है-सर्वतन्त्र १ प्रतितन्त्र २, अधिकरण ३ और अभ्युपगम सिद्धान्त ४॥

सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः ॥ २८ ॥

सब तन्त्रों (ग्रन्थों) से अविरुद्ध किसी एक तन्त्र में स्वीकार किये गये अर्थ को "सर्वतन्त्रसिद्धान्त" कहते हैं। (जिस को सब शास्त्रकार मानें)॥

समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः ॥ २९ ॥

एक तन्त्र में सिद्ध और दूसरे में असिद्ध को " प्रतितन्त्र सिद्धान्त " कहते हैं। (अपने अपने तन्त्र का सिद्धान्त)॥

यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः ॥ ३० ॥

जिस के सिद्ध होने से अन्य अर्थ भी (नियम से) सिद्ध हों (अर्थात् उस अर्थ की सिद्धि विना अन्य अर्थ सिद्ध न हो सकें)उसे "अधिकरण सिद्धान्त" कहते हैं। (जैसे-देह और इन्द्रियों से भिन्न कोई जानने वाला है देखने छूने से एक अर्थ के ज्ञान होने से चक्षु इन्द्रियों का अनेकपन, उन के विषयों का नियत

होना, इन्द्रिया ज्ञाता के ज्ञान की साधक हैं, इत्यादि विषयों की सिद्धि आप हो जाती है । क्योंकि उन के माने विना उक्त अर्थ का सम्भव नही) ॥

अपरीक्षिताभ्युपगमात्तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः३१

परीक्षा के विना किसी वस्तु के अङ्गीकार करने से उस वस्तु की विशेष परीक्षा करने को "अभ्युपगमसिद्धान्त" कहते हैं। (जैसे मान लिया कि शब्द द्रव्य है, परन्तु वह नित्य है वा अनित्य । यह विशेष परीक्षा हुई । यह सिद्धान्त अपनी बुद्धि की अधिकता और दूसरे की बुद्धि का अनादर करने के लिये काम में आता है अर्थात् हमारी ऐसी तीक्ष्ण बुद्धि है कि तुम्हारे असत्य कहने को मान कर भी हम तुम्हारा खण्डन करते है) ॥

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ॥ ३२ ॥

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन; ये पाच (वाद के) अवयव (भाग) कहाते हैं । जिन में से –

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ॥ ३३ ॥ 1

साध्य के कथन को "प्रतिज्ञा" कहते हैं । जैसे–घट अनित्य है ॥

उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः ॥ ३४ ॥ 2

उदाहरण के साधर्म्य (तुल्यता) से साध्य के साधने को "हेतु" कहते हैं। (जैसे-उत्पत्तिधर्मवान् होने से । जो उत्पत्तिधर्मवान् है अर्थात् जो वस्तु उत्पन्न होता है वह अनित्य देखा गया है। हेतु का लक्षण और भी है कि –)

तथा वैधर्म्यात् ॥ ३५ ॥

उदाहरण के वैधर्म्य से भी साध्य के साधने को हेतु कहते हैं । (जैसे–घट अनित्य है, उत्पत्ति धर्मवान् होने से । जो उत्पत्तिधर्मवान् नहीं, वह नित्य है । (जैसे आत्मा–यहा उदाहरण के विरोधी धर्म से घट का अनित्यत्व सिद्ध किया है) ॥

साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् ॥ ३६ ॥ 3

साध्य के साथ समानता से, साध्य का धर्म जिस में हो, ऐसे दृष्टान्त को "उदाहरण" कहते हैं। (जैसे-जो उत्पन्न होता है वह उत्पत्ति धर्मवान् कहाता और उत्पन्न होने के पीछे नष्ट भी हो जाता है । इस लिये अनित्य हुआ । इस प्रकार उत्पत्तिधर्म वालापन साधन और अनित्यत्व साध्य हुआ । जिन धर्मों का साध्यसाधनभाव एक वस्तु में निश्चित पाया जाता है, उस को

दृष्टान्त में देख घट में भी अनुमान करना कि घट उत्पत्ति वाला है, इस लिये अनित्य है। घट की नाईं। यहां घट दृष्टान्त है) ॥

तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम् ॥ ३७ ॥

साध्य के विपर्यय से विपरीत (उलटा) उदाहरण होता है। (जैसे –घट अनित्य है उत्पत्तिधर्मवान् होने से। जो उत्पत्तिधर्मवान् नहीं है वह नित्य देखा गया है। जैसे–आकाशादि। यहां दृष्टान्त में उत्पत्तिधर्म के अभाव से नित्यत्व देख कर घट में विपरीत अनुमान किया जाता है क्योंकि घट में उत्पत्ति धर्म है, उस का अभाव नहीं, इस लिये अनित्य है) ॥

उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः ३८

उदाहरणाधीन "तथा" अथवा 'न तथा" इस रूप से साध्य के उपसंहार को उपनय कहते हैं। (उदाहरण दो प्रकार के होते हैं इस लिये उपनय भी दो प्रकार के हुवे। जैसे–घट आदि पदार्थ उत्पत्ति वाले होने से अनित्य देखे गये हैं वैसे घट भी उत्पत्तिवान् है। यह घट के उत्पत्ति धर्मवत्त्व का उपसंहार हुआ। साध्य के विरुद्ध उदाहरण में आत्मादि पदार्थ उत्पत्तिमान् न होने से नित्य हैं और घट तो उत्पत्तिधर्म वाला है। यह अनुत्पत्ति धर्म के निषेध से उत्पत्तिधर्मवत्त्व का उपसंहार हुआ। अर्थात् जहां साधर्म्य का दृष्टान्त होगा वहां 'तथा" ऐसा उपनय होगा। और जहां वैधर्म्य का दृष्टान्त होगा वहां "न तथा" का) ॥

हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम् ॥ ३९ ॥

इस लिये उत्पत्तिधर्मवान् होने से घट अनित्य है। इसे निगमन कहते हैं। (प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण और उपनय, ये जिस में एकत्र समर्पित किये जांय, उस को निगमन कहते हैं। सुगमता के लिये पूर्वोक्त सब अवयव फिर से दिखलाये जाते हैं। घट अनित्य है, यह प्रतिज्ञा। उत्पत्तिधर्मवान् होने से यह हेतु। उत्पत्ति धर्मवान् घटादि द्रव्य अनित्य देखने में आते हैं यह उदाहरण। ऐसा ही घट भी उत्पत्तिधर्मवान् है, इस को उपनय कहते हैं। इस लिये उत्पत्तिधर्मवान् होने से घट अनित्य सिद्ध हुआ, इस का नाम निगमन है ॥

अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः ४०

नहीं जाना है तत्त्व जिस का, उसे अर्थ में हेतु की उपपत्ति से तत्त्वज्ञान के लिये किये हुवे विचार को तर्क कहते हैं ॥ (जिस वस्तु का तत्त्व ज्ञात नहीं,

विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः ॥४१॥

इति प्रथमाध्याये प्रथममान्हिकम् ॥ १ ॥

साधन और निषेध से विचार करके अर्थ के निश्चय को निर्णय कहते हैं ॥ साधन और निषेध के कथन पक्ष प्रतिपक्ष कहाते हैं। उन में से एक की निवृत्ति होने से दूसरे की स्थिति अवश्य हो जायगी, जिस की स्थिति होगी उस का निश्चय होगा, इसी को "निर्णय" कहते हैं ॥

वाद, जल्प और वितण्डा ये तीन प्रकार की कथा होती हैं उन में से वाद का लक्षण यह है कि:—

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः
पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः (४२) ॥१॥

(एक में परस्पर विरोधी दो धर्म पक्ष प्रतिपक्ष कहाते हैं। जैसे एक कहता है कि आत्मा है, दूसरा कहता है कि नहीं)। पक्ष और प्रतिपक्ष के अङ्गीकार को वाद कहते हैं। उस के प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ, सिद्धान्ताविरुद्ध और पञ्चावयवोपपन्न; ये तीन विशेषण हैं। जिस में अपने पक्ष का प्रमाण से स्थापन और प्रतिपक्ष का तर्क से निषेध हो, सिद्धान्त का विरोध न हो, और पांच अवयवों से युक्त हो, उसे वाद कहते हैं (प्रतिज्ञा हेतु इत्यादि ५ अवयव लक्षणसहित पूर्व ही लिखे गये हैं) ॥

यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थान-
साधनोपालम्भो जल्पः (४३) ॥ २ ॥

उक्त लक्षण युक्त, छल जाति और निग्रहस्थान से साधन और निषेध जिस में किये जांय, उस को "जल्प" कहते हैं। अर्थात् वाद और जल्प में इतना ही भेद है कि वाद में छल आदि से साधन वा निषेध नहीं किये जाते पर जल्प में ये काम आते हैं ॥ छल जाति और निग्रहस्थान के लक्षण क्रम से आगे लिखे जायगे ॥

स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा (४४) ॥ ३ ॥

जिस में प्रतिपक्ष का स्थापन न हो ऐसे जल्प को वितण्डा कहते हैं ॥

सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमा-
तीतकाला हेत्वाभासाः (४५) ॥ ४ ॥

हेतु से दीख पड़े परन्तु वस्तुतः हेतु के लक्षणों से रहित हों उन को हेत्वाभास कहते हैं। सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम, और अतीतकाल; ये पांच हेत्वाभास हैं॥ आगे इन पांचों के लक्षण क्रम से लिखते हैं कि-

अनैकान्तिक सव्यभिचार (४६) ॥ ५ ॥

अव्यवस्था को व्यभिचार कहते हैं अनैकान्तिक व्यभिचारसहित को सव्यभिचार हेतु कहते हैं। जैसे-किसी ने कहा कि शब्द नित्य है, स्पर्शवान् न होने से, स्पर्शवाला घट अनित्य देखा जाता है वैसा शब्द स्पर्शवाला नहीं, इस लिये शब्द नित्य है। यहां दृष्टान्त में स्पर्शवत्त्व और अनित्यत्व रूप धर्म साध्यसाधनभूत नहीं हैं। क्योंकि परमाणु स्पर्शवान् हैं पर अनित्य नहीं प्रत्युत नित्य हैं, ऐसे ही यदि कहैं कि जो स्पर्शवान् नहीं, वह नित्य है। जैसे आत्मा, तो यह भी नहीं कह सकते क्योंकि बुद्धि स्पर्श वाली नहीं पर नित्य नहीं है किन्तु अनित्य है। इस प्रकार दोनों दृष्टान्तों में व्यभिचार आने से स्पर्शवत्त्व न होना हेतु सव्यभिचार हुआ। एक अन्त में रहने वाले को ऐकान्तिक कहते हैं इस से विपरीत को अनैकान्तिक जानना चाहिये॥

सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्ध (४७) ॥ ६ ॥

जिस सिद्धान्त को मान कर प्रवृत्त हो उसी सिद्धान्त के विरोधी हेतु को "विरुद्ध" कहते हैं॥

यस्मात्प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थ-मपदिष्ट'प्रकरणसम (४८) ॥ ७ ॥

विचार के आश्रय अनिश्चित पक्ष और प्रतिपक्ष को प्रकरण कहते हैं, उस की चिन्ता संदेह से लेकर निर्णय तक जिस कारण की गई वह निश्चय के लिये काम में लाया जावे तो दोनों पक्षों की समता से प्रकरण से आगे नहीं बढ़ता इस लिये "प्रकरणसम" हुआ। जैसे किसी ने कहा कि शब्द अनित्य है नित्य धर्म के ज्ञान न होने से, यह हेतु प्रकरणसम है। इस से दो पक्षों में से किसी एकपक्ष का निर्णय नहीं हो सकता। क्योंकि जो शब्द में नित्यत्व धर्म का ग्रहण होता तो प्रकरण ही नहीं चलता अथवा अनित्यत्व धर्म का ज्ञान शब्द में होता तो भी प्रकरण सिद्ध न होता अर्थात् जो दो धर्मों में से एक का भी ज्ञान होता तो शब्द अनित्य है कि नित्य? यह विचार ही क्यों प्रवृत्त होता॥

साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः (४९) ॥ ८ ॥

हेतु भी स्वयं साध्य होने से, साध्य के अविशेष (समान) होने के कारण साध्यसम हेत्वाभास कहाता है। जैसे छाया द्रव्य है, यह साध्य है, गति वाली होने से, यह हेतु है, साधने के योग्य होने से यह हेतु साध्य से विशेष नहीं। इस लिये साध्य के सम हुआ क्योंकि छाया में जैसे द्रव्यत्व साध्य है, वैसे ही गति भी साध्य है ॥

कालात्ययापदिष्टः कालातीतः (५०) ॥ ९ ॥

जिस अर्थ का वर्णन समय चूक कर किया गया हो उसे कालातीत कहते है ॥

वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम् (५१) ॥१०॥

अर्थ बदलने से वचन का विघात करना छल कहाता है ॥

तत्त्रिविधं वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलञ्चेति(५२)।११।

वह (छल) तीन प्रकार का है–वाक्छल, सामान्यच्छल और उपचारच्छल॥

वाक्छल का लक्षण–

अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तर-
कल्पना वाक्छलम् (५३) ॥ १३ ॥

साधारण रूप से कहे अर्थ में वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध अन्य अर्थकी कल्पना को वाकूछल कहते है। जैसे किसी ने कहा कि "यह बालक नव कम्बलवान् है" यहा कहने वाले का आशय यह है कि "इस बालक का कम्बल नया है"। छलवादी वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध कहता है कि "इस लड़के के पास तो केवल एक कम्बल है, ९ कहा से आये" यहा "नवकम्बल" समस्त पद है। इस के विग्रह दो प्रकार से होते हैं। एक तो "नवीन है कम्बल जिस का" और दूसरा "नव ९ हैं कम्बल जिस के" नव शब्द के नवीन और नव ९ संख्या ये दो अर्थ है। इस लिये नवकम्बल शब्द के समास में दोनो ही अर्थ हो सकते है। तब जैसा अर्थ चाहो वैसा ही निकल सकता है। विशेष अर्थ का ज्ञान समस्त में नहीं। अनेकार्थ शब्द का साधारण से प्रयोग किया जाता है फिर जिस अर्थ का संभव हो उसी को लेना चाहिये, न कि असंभव अर्थ को लेकर दोष देना। यह वाणी का छल होने से वाक्छल है ॥

सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम् (५४) ॥ १३ ॥

संभव अर्थ के अतिसामान्य के योग से असंभव अर्थ की कल्पना को सामान्यच्छल कहते हैं जैसे किसी ने कहा कि "यह ब्रह्मचारी विद्याविनय संपन्न है। इस वचन का खण्डन अर्थविकल्प के ग्रहण तथा असम्भव अर्थ की कल्पना से करना कि जैसे ब्रह्मचारी में विद्याविनयसम्पत्ति सम्भव है वैसे व्रात्य में भी हो तो व्रात्य भी ब्रह्मचारी है वह भी विद्याविनयसंपन्न है। जो वक्ता को इष्ट अर्थ प्राप्त हो उस का उल्लङ्घन करे, उस को अतिसामान्य कहते हैं। जैसे ब्रह्मचारित्व कहीं विद्याविनयसम्पत्ति का प्राप्त होता है और कहीं नहीं भी होता।

इस का खण्डन यह है कि यह वाक्य प्रशंसार्थक है। इस लिये इस में असम्भव अर्थ की कल्पना नहीं हो सकती। ब्रह्मचारी संपत्ति का विषय है, उस का हेतु नहीं क्योंकि यहां हेतु की विवक्षा नहीं अर्थात् ब्रह्मचारी होने से विद्याविनयसम्पन्न है। यह वक्ता का इष्ट नहीं।

धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम् (५५) ॥ १४ ॥

यथार्थ प्रयोग करना अभिधान का धर्म है। अन्यत्र दृष्ट का प्रयोग अन्य स्थान में करना धर्म का विकल्प कहाता है। उस के उच्चारण से अर्थ के सद्भाव का निषेध उपचारच्छल कहाता है। जैसे किसी ने कहा-मचान चिल्ला रहे हैं। इस का दूसरा खण्डन करता है कि मचानों पर बैठे हुये पुरुष चिल्ला रहे हैं, मचान नहीं चिल्लाते। सहचार आदि कारणों से जो तद्रूप नहीं उस में तद्रूप के कथन का नाम उपचार है। तद्विषयक छल को उपचारच्छल कहते हैं इस का समाधान यह है कि प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध प्रयोग में वक्ता का जैसा आशय हो वैसी ही अनुमति वा निषेध होने। अपनी इच्छा के अनुसार नहीं क्योंकि प्रधान और अप्रधान अर्थ के अभिप्राय से दोनों ही प्रकार के शब्दों का प्रयोग लोक में प्रसिद्ध है इस लिये जब वक्ता प्रधान के अभिप्राय से प्रयोग करे तब उसी के स्वीकार और निषेध होने चाहियें जहां वक्ता अप्रधान के आशय से प्रयोग करता है और दूसरा प्रधान के अभिप्राय से अपनी इच्छा के अनुसार खण्डन करता है, यह उचित नहीं। जैसे उक्त उदाहरण में मचान शब्द के दो अर्थ हैं एक तो किसान लोग खेती की रखवाली के लिये लकड़ियों के ऊंचे बैठक बना लेते हैं उन को मचान

कहते हैं। यही अर्थ प्रधान वा मुख्य कहाता और मचानों पर बैठे हुये मनुष्य भी उक्त शब्द के अर्थ हैं पर यह अर्थ अप्रधान वा गौण कहाजाता है। अब विचारना चाहिये कि जिस ने मञ्च नचिल्लाते हैं यह प्रयोग किया तो उस का आशय अप्रधानविषयक है तब प्रधान अर्थ को लेकर उसका खण्डन करना छल ही कहावेगा ॥

वाक्छलमेवोपचारच्छलं तदविशेषात् (५६) ॥ १५ ॥

वाक्छल में उपचारच्छल पृथक् नहीं क्योंकि दूसरे अर्थ की कल्पना उपचारच्छल में भी समान है अर्थात् जैसे वाक्छल में अर्थान्तर की कल्पना करके खण्डन किया था वैसे ही उपचारच्छल में भी किया फिर भेद क्या हुआ?

न तदर्थान्तरभावात् (५७) ॥ १६ ॥

वाक्छल ही उपचारच्छल नहीं हो सकता क्योंकि अर्थान्तर की कल्पना से दूसरे अर्थ के सद्भाव की कल्पना अन्य अर्थ की सत्ता का निषेध होता है। उपचार छल में और वाक्छल में ऐसा नहीं होता अर्थात उपचारच्छल में अर्थ बदलकर एक अर्थ का सर्वथा खण्डन कर देते हैं जैसे उक्त उदाहरण में मचान शब्द का अर्थ बदल कर पहिले अर्थ का खण्डन कर दिया। वाक्छल में नव शब्द के किसी अर्थ का खण्डन नहीं किया, यही इन में परस्पर भेद है ॥

अविशेषे वा किञ्चित्साधर्म्यादेकच्छलप्रसंगः (५८) ॥ १७ ॥

विशेषता न मानोगे तो कुछ तुल्यता मान कर एक ही प्रकार का छल रह जायगा, यदि यह हेतु किञ्चित समानता से छल के त्रिविध होने का खण्डन करेगा तो द्विविध होने का खण्डन भी अवश्य ही करेगा क्योंकि कुछ तुल्यता दो की भी विद्यमान ही है और जो कहो कि किञ्चित् समानता से द्विविधपन की निवृत्ति नहीं होती तो त्रिविधत्व की भी निवृत्ति क्योंकर होवेगी ॥

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः (५९) ॥ १८ ॥

साधर्म्य और वैधर्म्य से प्रत्यवस्थान (खण्डन) को जाति कहते हैं ॥

विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ॥ (६०) ॥ १९ ॥

विपरीत अथवा निन्दित प्रतिपत्ति को विप्रतिपत्ति कहते हैं और दूसरे से सिद्ध किये पक्ष का खण्डन न करना अथवा अपने पक्ष पर दिये दोष का समाधान न करना अप्रतिपत्ति है। प्रतिपत्ति शब्द का अर्थ प्रवृत्ति है। यह दोनों निग्रहस्थान अर्थात पराजय के स्थान हैं। विप्रतिपत्ति वा अप्रतिपत्ति करने से पराजय होता है ॥

तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम् ॥ (६१) ॥२०॥

साधर्म्य वैधर्म्य से प्रत्यवस्थान के विकल्प से जाति का बहुत्व और विप्रतिपत्ति तथा अप्रतिपत्ति के विकल्प से निग्रहस्थान का बहुत्व होता है। अनेक प्रकार की कल्पना को विकल्प कहते हैं। जैसे अननुभाषण अर्थात् मौन होजाना, अज्ञान=न समझना, अप्रतिभा=उत्तर का न फुरना, मतानुज्ञा=दूसरे के मत का अङ्गीकार कर अपने ऊपर दिये दोष की उपेक्षा करनी यह सब अप्रतिपत्ति है और शेष को विप्रतिपत्ति जानना चाहिये ॥

यह प्रमाणादि सोलह १६ पदार्थों का लक्षण सहित विभाग पूरा हुआ। आगे दूसरे अध्याय में इन की परीक्षा की जायगी ॥

इति प्रथमाध्याये द्वितीयमाह्निकम् ॥२॥

इति न्यायदर्शनभाषानुवादे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥



सन्देह उठा कर पक्ष और प्रतिपक्ष से अर्थ के निर्णय करने को परीक्षा कहते हैं। इस लिये सब का उपयोगी होने से पहिले सन्देह की परीक्षा की जाती है

समानानेकधर्माध्यवसायादन्यतरधर्माध्यवसायाद्वा न संशयः ॥ १ ॥ (६२)

समान और अनेक धर्मों के अवधारण होने से वा एक धर्म के ज्ञान से सन्देह नहीं हो सकता। इस सूत्र का आशय भाष्यकार ने दो तीन प्रकार से लगाया है। एक तो यह कि धर्म के ज्ञान से धर्मी में सन्देह नहीं बनता क्योंकि धर्म और धर्मी भिन्न पदार्थ हैं। रूप के ज्ञान से स्पर्श में कभी सन्देह नहीं हो सकता। दूसरा अर्थ कि अवधारण से अनवधारण रूप सन्देह कैसे उत्पन्न हो सकेगा क्योंकि कारण और कार्य समान रूप होते हैं इस लिये निश्चय रूप कारण से अनिश्चयरूप सन्देह नहीं हो सकता। ऐसे ही दो में से एक धर्म के निश्चय से भी सन्देह नहीं बनता। उस से तो एक का निश्चय ही होजायगा॥

विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच्च ॥२॥ (६३)

केवल विप्रतिपत्ति और केवल अव्यवस्था से भी सन्देह नहीं हो सकता किन्तु विप्रतिपत्ति का जिस को ज्ञान हुआ उस को सन्देह होगा। ऐसे ही अव्यवस्था में भी जान लेना चाहिये ॥

विप्रतिपत्तौ च संप्रतिपत्तेः ॥ ३ ॥ (६४)

जिस विप्रतिपत्ति को आप संदेह का हेतु मानते हैं वह संप्रतिपत्ति है क्योंकि वह दो के विरुद्ध धर्म विषयक है। वहां जो विप्रतिपत्ति से संदेह कहोगे तो संप्रतिपत्ति से भी सन्देह होना चाहिये अर्थात् केवल विप्रतिपत्ति सन्देह का कारण नहीं हो सकती ॥

अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाव्यवस्थायाः ॥४॥(६५)

अव्यवस्था सन्देह नहीं हो सकती क्योंकि अव्यवस्था आत्मा में व्यवस्थित है। व्यवस्थित होने से सन्देह हो नहीं सकता। किसी विशेष विषय में स्थिति को व्यवस्था और उस से विपरीत को अव्यवस्था कहते हैं ॥

तथात्यन्तसंशयस्तद्धर्मसातत्योपपत्तेः ॥ ५ ॥ (६६)

ऐसा होने से अत्यन्त सन्देह हो जायगा क्योंकि उन धर्मों की उपपत्ति निरन्तर विद्यमान है। जिस प्रकार समान धर्मों की उपपत्ति से आप सन्देह मानते हैं उसी से अत्यन्त संशय की आपत्ति आजाती है। समान धर्मों की उपपत्ति का अभाव न होने से सन्देह की निवृत्ति कभी न होगी ॥

अब इन सब पूर्वपक्षों का समाधान लिखते हैं:-

यथोक्ताध्यवसायादेव तद्विशेषापेक्षात्संशये नासंशयो नात्यन्तसंशयो वा ॥ ६ ॥ (६७)

विशेषधर्माकाङ्क्षायुक्त उक्त अध्यवसाय से ही सन्देह के स्वीकार से सन्देह का अभाव वा अत्यन्त सन्देह नहीं होसकता। जैसे दो पदार्थ मैंने पहिले देखे थे उन के समान धर्म देखता हूं विशेष धर्म ज्ञात नहीं होते किस प्रकार विशेष धर्म को जानूं जिस से दो में से एक का निश्चय करूं और यह सन्देह समान धर्मों के ज्ञान रहते केवल धर्म और धर्मी के ज्ञान से निवृत्त नहीं होसकता। इस से अनेक धर्मों के अध्यवसाय से सन्देह नहीं होता इस का समाधान किया और जो कहा था कि दूसरे अर्थ के निश्चय से अन्य अर्थ में सन्देह नहीं हो सकता। यह उस से कहना चाहिये कि जो केवल अर्थान्तर के अध्यवसाय को सन्देह का कारण मानता हो। जो यह कहा था कि कार्य कारण की समानरूपता नहीं। यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि कार्य और कारण की समानरूपता यही है कि कारण के होने से कार्य का होना तथा कारण के

अभाव से कार्य का न होना । यह संशय के कारण और उन के कार्य संशय में विद्यमान ही हैं और जो कहा था कि विप्रतिपत्ति की अव्यवस्था के कारण संशय से सन्देह नहीं हो सकता यह भी ठीक नहीं । जैसे एक कहता है कि आत्मा है और दूसरा कहता है कि नहीं इन दो बातों से मध्यस्थ को सन्देह होता है कि दो भिन्न भिन्न बातों में परस्पर विरोधी धर्म जान पड़ते हैं और विशेष धर्म जानता नहीं कि जिस के द्वारा दो में से एक का निश्चय करूं । एक वस्तु में परस्पर विरोधी दो बातों का नाम विप्रतिपत्ति है इसी प्रकार उपलब्धि आदि सन्देह में भी समाधान समझ लेना चाहिये और, जो यह दोष दिया था कि उन धर्म की निरन्तर उपपत्ति होने से अत्यन्त सन्देह हो जायगा अर्थात् सन्देह की निवृत्ति कभी न होगी यह कहना तब ठीक होता जो समान धर्म के अध्यवसाय को सन्देह का कारण कहते । हम तो विशेष धर्म की स्मृति रहित समान धर्म के अध्यवसाय को सन्देह का कारण कहते हैं, जब विशेष धर्म का ज्ञान हो जायगा तब सन्देह की निवृत्ति अवश्य होगी ।

यत्र संशयस्तत्रैवमुत्तरोत्तरप्रसङ्गः ॥ ७ ॥ (६८)

जहां जहां इस प्रकार में सन्देह करके परीक्षा की जाय, वहां यदि कोई सन्देह का निषेध करे तो इसी रीति से समाधान करना चाहिये । इसलिये सन्देह की परीक्षा पहले की गई कि सब परीक्षाओं में यह उपयोगी है । अब प्रमाणों की परीक्षा करते हैं—

प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः ॥ ८ ॥ (६९)

प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं हो सकते तीनों काल में असिद्ध होने से अर्थात् पहिले पीछे और साथ में इन का होना असिद्ध है । यह साधारण वचन है इस के अर्थ का विवेचना अगले सूत्रों में की है ।

पूर्वं हि प्रमाणसिद्धौ नेन्द्रियार्थसन्निकर्षात्प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥ ९ ॥ (७०)

गन्ध आदि विषय से पूर्व प्रत्यक्ष है, यदि वह पहिले ही से है, गन्ध आदि विषयों की सिद्धि पीछे से होगी तो इन्द्रिय और अर्थ के मेल से प्रत्यक्ष की उत्पत्ति नहीं हुई ।

पश्चात्सिद्धौ न प्रमाणेभ्यः प्रमेयसिद्धिः ॥ १० ॥ (७१)

पीछे से सिद्धि मान लें तो प्रमाणों से प्रमेय की सिद्धि नहीं हुई क्योंकि प्रमाण से सिद्ध हुये प्रमेय कहाता है ।

युगपत्सिद्धौ प्रत्यर्थनियतत्वात् क्रमवृत्तित्वाभावो बुद्धीनाम्॥ ॥ ११ ॥ (७२)

यदि प्रमाण और प्रमेय की सिद्धि एक साथ होती है तो ज्ञान के प्रत्यर्थ नियत होने से बुद्धियों के क्रमवृत्तित्व का अभाव होगा ॥ और यह ठीक नहीं क्योंकि एक साथ ज्ञान का न होना मन का लिङ्ग है। एक काल में अनेक ज्ञान नहीं हो सकते। इस लिये प्रत्यक्षादि प्रमाणों का प्रमाणपन सिद्ध नहीं होता। इन शङ्काओं का समाधान सूत्रकार ने ही आगे किया है कि –

त्रैकाल्यासिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ १२ ॥ (७३)

तीन काल में असिद्ध होने से प्रतिषेध की उपपत्ति नहीं हो सकती ॥

सर्वप्रमाणप्रतिषेधाच्च प्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ १३ ॥ (७४)

और सब प्रमाणों के प्रतिषेध करने से भी प्रतिषेध सिद्ध नहीं हो सकता॥ सब प्रमाणों का निषेध कर चुके तो प्रतिषेध करने में प्रमाण कहां से लाओगे और बिना प्रमाण कोई बात सिद्ध नहीं हो सकती, इस लिये सब प्रमाणों का निषेध नहीं हो सकता ॥

तत्प्रामाण्ये वा न सर्वप्रमाणविप्रतिषेधः ॥ १४ ॥ (७५)

यदि प्रतिषेध प्रमाण को प्रमाण माने तो सब प्रमाणों का प्रतिषेध नहीं हो सकता ॥

त्रैकाल्याऽप्रतिषेधश्च शब्दादातोद्यसिद्धिवत्तत्सिद्धेः ॥१५॥ (७६)

तीनों काल का निषेध नहीं हो सकता, जैसे शब्द के सुनने से बाजे की सिद्धि होती है ॥ छिपे हुये बीन, बांसुरी, तुरी आदि बाजों का शब्द से अनुमान होता है कि बीन आदि बजाये जाते हैं। प्रमाण और प्रमेय का समकाल होने का नियम नहीं है, कहीं प्रमाण पहिले, कहीं पीछे और कहीं साथ ही रहता है ॥

प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत् ॥ १६ ॥ (७७)

तुला (तराज़ू) जैसे प्रमाण और प्रमेय उभयधर्मयुक्त होने से प्रमाण और प्रमेय भी कही जाती है ॥ सुवर्णादि द्रव्यों का भार कांटे से जाना जाता है, इस लिये प्रमाण और कांटे का बोझा जब दूसरी वस्तु से ज्ञात हो तब

वही प्रमेय हो सकता है। जैसे आत्मा ज्ञान के विषय होने से प्रमेयों में पढ़ा गया और जानने में स्वतन्त्र होने से प्रमाता भी कहाता है ॥

प्रमाणतः सिद्धे प्रमाणानां प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसङ्गः ॥१७॥(७८)

यदि प्रमाण से (प्रत्यक्षादि) प्रमाणों की सिद्धि मानें तो दूसरे प्रमाणों की सिद्धि माननी पड़ेगी॥ अनवस्था दोष आयेगा। जैसे कोई पूछे कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सिद्धि अन्य प्रमाणों से हुई तो उन प्रमाणों की सिद्धि किस से हुई ? यदि उन की सिद्धि दूसरों से हुई तो उन की सिद्धि किस से ? इसी प्रकार कहते २ प्रलय तक अन्त न होगा ॥

तद्विनिवृत्तेर्वा प्रमाणान्तरसिद्धिवत् प्रमेयसिद्धिः ॥१८॥(७९)

यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के ज्ञान के लिये प्रमाणान्तर न मानोगे तो (आत्मा के ज्ञान के लिये भी प्रमाण मानने की आवश्यकता न रहेगी) दूसरे प्रमाण की सिद्धि की भांति प्रमेय की सिद्धि भी स्वयं हो जावेगी ॥

न प्रदीपप्रकाशवत् तत्सिद्धेः ॥ १९ ॥ (८०)

ऐसा मत कहो दीपप्रकाश के समान उन की सिद्धि हो जायगी। जैसे दीप का प्रकाश स्वयं दर्शनयोग्य होकर आप दृश्य पदार्थों के दर्शन का कारण होने से दृश्य और दर्शन का कारण भी कहा जाता है। वैसे ही प्रमेय होकर भी किसी वस्तु के दर्शन का हेतु होने से वही प्रमाण भी हो सकता है अर्थात् एक ही वस्तु प्रमाण और प्रमेय के नाम से अवस्थाभेद के कारण व्यवहृत हो सकता है। इस से सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्षादिकों की सिद्धि प्रत्यक्षादि प्रमाणों ही से होती है, न कि दूसरे प्रमाणों से। इस प्रकार साधारणता से प्रमाणों की परीक्षा करके, अब विशेषरूप से एक एक की परीक्षा की जाती है कि-

प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तिरसमग्रवचनात् ॥ २० ॥ (८१)

पूर्वपक्ष-प्रत्यक्ष का लक्षण सिद्ध नहीं होता क्योंकि पूर्णरूप से नहीं कहा गया। क्योंकि:-

नात्ममनसोः सन्निकर्षाभावे प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥ २१ ॥ (८२)

आत्मा और मन के संयोग न होने पर प्रत्यक्ष की उत्पत्ति नहीं होती

दिग्देशकालाकाशेष्वेवंप्रसंगः ॥ २२ ॥ (८३)

इसी प्रकार दिशा देश काल और आकाश में भी प्रसङ्ग हुआ ॥ (क्योंकि दिशा आदि में ही तो ज्ञान होता है, इस लिये ये भी प्रत्यक्ष के कारण कहाने चाहियें क्योकि देशादि को बचा नहीं सकते। जहां ज्ञान होता है, वहा ये अवश्य रहते ही हैं। फिर इन को कारण क्यों नहीं माना?)

ज्ञानलिङ्गत्वादात्मनो नानवरोधः ॥ २३ ॥

उत्तरपक्ष—ज्ञान आत्मा का लिङ्ग होने से (इस का) त्याग मत समझो॥

तदयौगपद्यलिङ्गत्वाच्च न मनसः ॥ २४ ॥ (८५)

एक काल में अनेक ज्ञानो का न होना मन का लिङ्ग है। इस से मन का भी त्याग मत समझो ॥ और एक बात यह भी है कि शयन अथवा दुर्विक्षेपन की अवस्था में इन्द्रिय और अर्थ का संयोग रहता है, आत्मा और मन का संयोग नहीं अर्थात् जब प्राणी समय नियत करके सोता है, तब चिन्ता के कारण नियत समय पर जागता है और जब प्रबल शब्द और स्पर्श जगाने के कारण होंगे तब भी सोते पुरुष को इन्द्रिय और अर्थ के सयोग से जागना होगा, वहा आत्मा और मन के संयोग की मुख्यता नहीं, किन्तु इन्द्रिय और अर्थ का संयोग ही मुख्य कारण है। क्योकि उस समय आत्मा ज्ञान की इच्छा से मन को प्रेरणा नहीं करता। ऐसे ही जब इस का मन किसी दूसरे पदार्थ में लगा रहता है और सङ्कल्प होने से अन्य विषयों के जानने की इच्छा करता है, तब प्रयत्न से प्रेरणा करके मन को इन्द्रिय के साथ मिलाता है और उस विषय को जानता है, जब इस की इच्छा अन्य विषय के जानने की नहीं होती और एक ही विषय मे मन लगा रहता है, तब भी बाह्य विषयो के प्रबल सयोग से ज्ञान उत्पन्न होजाता है। उस समय इन्द्रिय और अर्थ के संयोग की प्रधानता है। क्योकि तब आत्मा ज्ञान की इच्छा न होने से मन को प्रेरणा नहीं करता। प्रधान होने के कारण इन्द्रिय और अर्थ के सयोग का ग्रहण करना चाहिये। गौण होने से आत्मा और मन के संयोग का ग्रहण करना उचित नहीं है ॥ इसी आशय को लेकर किन्हीं पुस्तकों मे (तदयौ०) इस २४ वे सूत्र से आगे दो सूत्र अन्य भी पाये जाते हैं कि—

प्रत्यक्षनिमित्तत्वाच्चेन्द्रियार्थयो सनिकर्षस्य पृथग्वचनम् ॥ (२५) सुप्तव्यासक्तमनसा चेन्द्रियार्थयो सनिकर्षनिमित्तत्वात् ॥ (२६)

अर्थ इन्द्रियों और अर्थों (विषयों) के संयोग को पृथक् इस लिये कहा गया है कि वह प्रत्यक्ष का निमित्त है (२५) तथा सोते और अन्यत्र दुचित्त पुरुषों को भी प्रत्यक्ष का निमित्त इन्द्रियों और अर्थों का संयोग ही है (२६) परन्तु हम ने इन को सूत्रों में इस कारण नहीं गिना कि वात्स्यायन भाष्यकार ने ये सूत्र नहीं माने प्रत्युत अपने व्याख्यान में वह बात कह दी है जो कि इन सूत्रों में है॥

इन्द्रियों और अर्थों का संयोग ही प्रत्यक्ष का मुख्य कारण है। इस में अन्य भी हेतु है कि —

तैश्चापदेशो ज्ञानविशेषाणाम् ॥२५॥ (८६)

इन्द्रियों और अर्थों से ही विशेष ज्ञानों का व्यवहार किया जाता है॥ जैसे नाक से सूंघना आंख से देखना और जीभ से स्वाद लेना। गन्धज्ञान रूपज्ञान और रसज्ञान इत्यादि। इस लिये इन्द्रियों और अर्थों के संयोग की ही प्रत्यक्ष में मुख्यता है॥

व्याहतत्वादहेतु ॥२६॥ (८७)

पूर्व० यह जो कहा कि ' इन्द्रिय और अर्थ का संयोग मुख्य है और आत्मा तथा मन का संयोग प्रधान नहीं क्योंकि शयन स्वप्न में या किसी विषय में जब मन अत्यन्त आसक्त हो जाता है ऐसी अवस्था में प्रबल इन्द्रिय अर्थ के संयोग से एकाएक ज्ञान हो जाता है। वहां आत्मा जानने की इच्छा से मन को प्रेरणा नहीं करता, तो भी ज्ञान हो ही जाता है'। बाधित होने से हेतु नहीं हो सकता। यदि किसी स्थल में आत्मा और मन के संयोग को ज्ञान का कारण न मानें तो एक साथ कई ज्ञानों के न होने से जो मन की सिद्धि कही थी वह बाधित हो जायगी। इस लिये आत्मा और मन का संयोग सब ज्ञानों का कारण है। यदि अवश्य मानना ही चाहिये तो फिर भी आत्मा और मन के संयोग का ग्रहण प्रत्यक्ष के लक्षण में करना चाहिये था॥

नार्थविशेषप्राबल्यात् ॥ २७ ॥ (८८)

उत्तर०—नहीं, क्योंकि (आत्मा और मन के संयोग की कारणता का व्यभिचार नहीं है, केवल इन्द्रिय और अर्थ के संयोग की) प्रधानता ली गई है ॥ किसी विशेष अर्थ की प्रबलता से सोते और मन को विषयान्तर में अति आसक्ति के समय में एक दम ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है ॥

प्रत्यक्षमनुमानमेकदेशग्रहणादुपलब्धे. ॥२८॥ (८९)

पूर्व०-इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से-वृक्षादि के आकार का जो प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है यह 'अनुमान" में क्यो न गिना जावे क्योंकि एक अवयव के प्रत्यक्ष ज्ञान से वृक्ष का बोध होता है ॥ जैसे धूम के देखने से अग्नि का अनुमान होता है वैसे ही वृक्ष के आगे के भाग का देखकर दूसरे भाग का अनुमान होता है। क्योंकि अवयवसमुदायरूप वृक्ष है। इस लिये सामने के भाग देखने से शेष भागों का जो ज्ञान होता है, वह अनुमान ही हुवा ?

न प्रत्यक्षेण यावत्तावदप्युपलम्भात् ॥ २९ ॥ (९०)

उत्तर०-नहीं, क्योंकि जितने देश का ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष ही से हुवा है॥ ज्ञान—निर्विषय नहीं होता, जितना अर्थ ज्ञान का विषय है,वह सब प्रत्यक्ष का विषय है। अन्य प्रकार से भी प्रत्यक्ष को अनुमान नहीं कह सक्ते क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है। परस्परसंबन्धयुक्त अग्नि और धूम के देखने वाले का धूम के प्रत्यक्ष से अग्नि का अनुमान होता है। यह जो वृक्ष का ज्ञान हुवा सो इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष ही है, अनुमान नहीं ॥

न चैकदेशोपलब्धिरवयविसद्भावात् ॥३०॥ (९१)

केवल एक देश ही का ज्ञान नहीं किन्तु (उस के सहचारी) अवयवी का भी ज्ञान होता है क्योंकि अवयवी भी विद्यमान है ॥

साध्यत्वादवयविनि सन्देहः ॥ ३१ ॥ (९२)

पूर्व०—जो कहा कि अवयवी भी विद्यमान है, उस का प्रत्यक्ष होता है, यह ठीक नहीं, क्योंकि साध्य होने से अवयवी में सदेह है॥ अर्थात् जब तक अवयवों से भिन्न अवयवी सिद्ध न हो जाय तब तक यह कहना कि अवयवी का प्रत्यक्ष होता है, असंगत है ॥

सर्वाऽग्रहणमवयव्यसिद्धेः ॥ ३२ ॥ (९३)

अर्थ-जो अवयवी को सिद्ध न मानोगे तो (द्रव्यगुण क्रिया जाति आदि) सब (किसी) पदार्थों का ज्ञान नहीं होगा ॥

धारणाकर्षणोपपत्तेश्च ॥ ३३ ॥ (९४)

तथा धारण और आकर्षण की उपपत्ति से भी अवयवी सिद्ध है। अर्थात् एक अवयव के धारण करने से सब का धारण और एक देश के खींचने से सब का खिंचना। जो अवयवी सिद्ध नहीं मानता उस से पूछना चाहिये कि "यह वस्तु एक है"। यह ज्ञान अभिन्न १ अर्थ को ग्रहण करता है अथवा अनेक को? यदि कहो कि अभिन्न १ अर्थ को तो अर्थान्तर के मानने से अवयवी सिद्ध हुआ। यदि कहो कि अनेक अर्थों का ग्रहण करता है तो यह बाधित है। क्योंकि अनेक में एक बुद्धि कैसे हो सकती है। इस लिये अवयवी अवश्य मानना चाहिये ॥

सेनावनवद्ग्रहणमिति चेन्नातीन्द्रियत्वादणूनाम् ॥३४॥ (९५)

जैसे सेना के अवयव और वन के अवयवों में दूर से भेद के ज्ञान न होने से एक है, ऐसा ज्ञान होता है, ऐसे ही परमाणु भी जब इकट्ठे हुए और भेद का ज्ञान न रहा, तब एक है ऐसी बुद्धि होने में क्या दोष होगा? यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि सेना और वन के अङ्ग मनुष्यों और वृक्षों का प्रत्यक्ष होता है। इस लिये उन के समूह का भी प्रत्यक्ष होता है। परन्तु परमाणु अतीन्द्रिय पदार्थ हैं उन के समुदाय का प्रत्यक्ष क्योंकर हो सकता है जब कि उन में से सब कोई अतीन्द्रिय है। इस लिये सेना वा वन का दृष्टान्त योग्य नहीं, किन्तु अवयवी अवश्य मानना पड़ेगा और उसी का प्रत्यक्ष होता है॥ प्रत्यक्ष की परीक्षा पूरी हुई। अब अनुमान प्रमाण की परीक्षा की जाती है कि-

रोधोपघातसादृश्येभ्यो व्यभिचारादनुमानमप्रमाणम्॥३५॥(९

पूर्व०-रोक, उपघात और सादृश्य से व्यभिचार आता है इस लिये अनुमान प्रमाण नहीं। जैसे नदी के चढ़ाव से ऊपर वर्षा होने का जो अनुमान किया था, वह ठीक नहीं क्योंकि नदी का चढ़ाव रोकने से भी हो सकता है। आगे किसी ने बांध बांध दिया तो नदी अवश्य चढ़ेगी ही। इस से ऊपर वर्षा का अनुमान मिथ्या हो गया। बिल के कटने से भी चींटियां अण्डे

लेकर चलती हैं, तब इस से होने वाली वर्षा का अनुमान यथार्थ न हुआ। ऐसे ही मनुष्य भी मोर के सा शब्द कर सकता है तो शब्द के सादृश्य से अनुमान मिथ्या हुआ। जैसे किसी ने मोर के शब्द को सुन कर मोर का अनुमान किया, पर शब्द तो मनुष्य ने किया था, इस लिये यह अनुमान ठीक न हुआ। उक्त कारणो से अनुमान का प्रमाणत्व नहीं हो सकता ॥

नैकदेशत्राससादृश्येभ्योऽर्थान्तरभावात् ॥ ३६ ॥ (९७)

उ०-नहीं, क्योंकि एक देश, त्रास और सादृश्य से अर्थान्तर होता है ॥ क्योंकि विशेषणयुक्त हेतु होता है, विना विशेषण हेतु नहीं हो सकता। पूर्व जलसहित वर्षा का जल, सोते का बड़े वेग से बहना, बहुत से फेन फल पत्ते काठ आदि के देखने से ऊपर हुई वर्षा का अनुमान होता है। बहुधा चींटियो के अण्डा लेकर चलने से होने वाली वर्षा का अनुमान किया जाता है, न कि एक आध चीटियों के झुंड के देखने से। ऐसे ही जब मोर के शब्द का निश्चय होता है और यह पक्का ज्ञान होता है कि यह शब्द मनुष्य ने नहीं किया, तभी यथार्थ अनुमान होता है और जो भलीभांति विचार किये विना झट पट साधारण हेतु से ही अनुमान कर बैठता है, प्रायः उसी का अनुमान मिथ्या होता है। तो क्या यह अनुमान प्रमाण का दोष गिना जायगा? कदापि नहीं, किन्तु यह दोष अनुमान करने वाले ही का माना जायगा ॥ अनुमान भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान (तीन) कालविषयक होता है। यह कहा था, इस पर शङ्का करते है कि—

वर्त्तमानाभावः पततः पतितपतितव्यकालोपपत्तेः ॥३७॥(९८)

पूर्व०-वृक्षशाखा से गिरते हुये फल का जो ऊपर का मार्ग है उस से युक्तकाल पतित (भूत) काल कहा जायगा और जो नीचे का मार्ग है वह पतितव्य (भविष्यत्) मार्ग हुवा, तद्युक्त पतितव्यकाल कहावेगा। अब तीसरा मार्ग कोई नहीं रहा, जिस को वर्त्तमान कहें, इस लिये वर्त्तमान काल कोई है ही नहीं। यह सिद्ध हो गया, तब अनुमान त्रिकालविषयक कैसे हो सकता है? तथा-

तयोरप्यभावो वर्त्तमानाभावे तदपेक्षत्वात् ॥३८॥ (९९)

वर्त्तमान के अभाव में उन (भूत भविष्यत) का भी अभाव है क्योंकि वर्त्तमान की अपेक्षा (निसबत) से भूत भविष्यत बनते हैं॥

नातीतानागतयोरितरेतरापेक्षासिद्धिः ॥ ३९ ॥ (१००)

वर्त्तमान काल का अभाव माने तो परस्पर सापेक्ष अतीत (भूत) अनागत (भविष्यत) की सिद्धि भी नहीं हो सकती। जैसे कोई पूछे कि भूतकाल किसे कहते हैं तो यही कहना पड़ेगा कि जो भविष्यत से ... है, है। ऐसे ही जब भविष्यत् का लक्षण कोई पूछेगा तब यही कहना पड़ेगा जो भूत से अन्य है वह भविष्यत है। इसी को अन्योन्याश्रय दोष कहते हैं। अर्थात् एक की सिद्धि में दूसरे की अपेक्षा और दूसरे की सिद्धि में पहले की। ऐसे स्थान में दो में से एक की भी सिद्धि नहीं हो सकती।

वर्त्तमानाभावे सर्वाग्रहणं प्रत्यक्षानुपपत्तेः ॥४०॥ (१०१)

व० वर्तमान के अभाव में प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति से सब का (किसी का भी) ग्रहण नहीं होगा। इन्द्रिय और पदार्थ के मेल से जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। अविद्यमान वस्तु प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष की असिद्धि होने से अनुमान और शब्द प्रमाण भी सिद्ध नहीं हो सकते। क्योंकि इन दोनों का प्रत्यक्ष सहायक है। जब सब प्रमाणों का लोप हुआ तब किसी वस्तु का ज्ञान न होगा। दो प्रकार से वर्तमान काल का ग्रहण होता है कहीं तो वस्तु की सत्ता से। जैसे—द्रव्य है और कहीं क्रिया की परम्परा से-जैसे पकाता है, काटता है। एक अर्थ में अनेक प्रकार की क्रिया को क्रियापरम्परा कहते हैं। जैसे बटलोई को चूल्हे पर धरना उस में पानी डालना, लकड़ियों को सुधारना अग्नि का जलाना करछी का चलाना, भात का पकाना और नीचे धरना आदि पाकक्रिया कहाती है। ऐसे ही कुल्हाड़ी को उठा कर फिर फिर काठ पर मारने को छेदन क्रिया कहते हैं। यही क्रियापरम्परा आरम्भ से लेकर जब तक पूरी न होगी तब तक " पकाता है काटता है " यह व्यवहार होता है। इस के आधार काल को वर्तमान कहते हैं॥

कृतताकर्त्तव्यतोपपत्तेस्तूभयथा ग्रहणम् ॥ ४१ ॥ (१०२)

कृतता और कर्तव्यता की उपपत्ति से भी उभयथा ग्रहण होता है। जब क्रियापरम्परा का आरम्भ नहीं हुआ पर आगे करने की इच्छा है यही भविष्यत् काल हुआ जैसे " पकावेगा "। क्रियापरम्परा के पूरे होने का नाम

अतीतकाल है)। जैसे 'पकाया"। और क्रियापरम्परा का आरम्भ तो हुवा पर पूरी नहीं हुई, इसी को वर्त्तमान कहते हैं। इस प्रकार क्रिया में तीन काल का व्यवहार होता है। क्रिया की पूर्णता=कृतता, करने की इच्छा=कर्त्तव्यता और विद्यमान=क्रियमाण कही जाती है। इस लिये वर्त्तमानकाल अवश्य मानना चाहिये॥ अनुमान की परीक्षा पूरी हुई, आगे उपमान की परीक्षा की जाती है कि:—

अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानाऽसिद्धिः ॥४२॥ (१०३)

अत्यन्त सादृश्य से उपमान प्रमाण की सिद्धि नहीं होसक्ती (क्योंकि "जैसी गाय वैसी गाय" ऐसा व्यवहार नहीं) बहुत सादृश्य से भी उपमान की सिद्धि नहीं होती (जैसा बैल वैसा भैंसा होता है, यह व्यवहार नहीं) कुछेक तुल्यता होने से भी उपमान सिद्ध नहीं हो सक्ता (क्योंकि सभी की सब से उपमा नहीं दीजाती। कुछ तुल्यता तो सभी की सब के साथ हो सक्ती है) इस लिये उपमान प्रमाण सिद्ध नहीं होता॥ इस का उत्तरः—

प्रसिद्धसाधर्म्यादुपमानसिद्धेर्यथोक्तदोषानुपपत्तिः ॥४३॥(१०४)

प्रसिद्ध समानधर्मता द्वारा उपमान की सिद्धि होने से उक्त दोष की उपपत्ति नहीं होसकती॥ अर्थात् साध्य के संपूर्णत्व, प्रायिकत्व वा थोड़े पन का आश्रय लेकर उपमान प्रमाण प्रवृत्त होता हो सो बात नहीं है, किन्तु प्रसिद्ध तुल्यता के आश्रय से अनुमान की प्रवृत्ति होती है। जहां यह समान धर्म मिलता है वहां उपमान का निषेध नहीं हो सकता। इस लिये उक्त दोष नहीं आता॥

प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षसिद्धेः ॥ ४४ ॥ (१०५)

पूर्व०—(अच्छा तो) प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की सिद्धि होने से (उपमान अनुमान ही के अन्तर्गत होजायगा। जैसे प्रत्यक्ष धुएं के देखने से अप्रत्यक्ष अग्नि का अनुमान होता है, वैसे ही गौ के प्रत्यक्ष देखने से अप्रत्यक्ष गवय का अनुमान हो जायगा। इस लिये यह अनुमान प्रमाण से पृथक् उपमान प्रमाण नहीं होसकता)॥

नाप्रत्यक्षे गवये प्रमाणार्थमुपमानस्य पश्याम इति॥४५॥(१०६)

उ०—नहीं, क्योंकि अप्रत्यक्ष गवय में उपमान प्रमाण का अर्थ हम नहीं देखते हैं॥ (अर्थात् जब गाय के देखने वाले को उपमान का उपदेश किया जाता है और वह गाय के समान पशु को देखता है तब उस को यह ज्ञान होता है कि इस प्राणी का नाम गवय है। ऐसा अनुमान में नहीं होता। अनुमान विना

देखे वस्तु का होता है। यही अनुमान और उपमान में विशेष है) ॥

तथेत्युपसंहारादुपमानसिद्धेर्नाविशेषः ॥४६॥ (१०७)

" ऐसा ही गवय होता है " ऐसे समान धर्म के उपसंहार से उपमान सिद्ध होता है । (ऐसा अनुमान में नहीं होता । अनुमान और उपमान में यह भी विशेष समझना चाहिये ॥ उपमान परीक्षा पूर्ण हुई । अब शब्द परीक्षा करते हैं कि)–

शब्दोऽनुमानमर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात् ॥ ४७ ॥ (१०८)

पूर्व०–शब्द प्रमाण भी अनुमान ही है, (भिन्न प्रमाण नहीं) क्योंकि शब्द का अर्थ उपलब्ध न होने से अनुमान के योग्य है । जैसे प्रत्यक्ष से अज्ञात साध्य का ज्ञान हेतु से पीछे अनुमान होता है ऐसे ही ज्ञात शब्द से पीछे अज्ञात अर्थ का ज्ञान होता है । इस लिये शब्द प्रमाण भी अनुमान ही है ॥ तथा–

उपलब्धेरद्विप्रवृत्तित्वात् ॥ ४८ ॥ (१०९)

ज्ञान की प्रवृत्ति दो प्रकार से नहीं होती, (इस से भी शब्द प्रमाण अनुमान ही है। प्रमाणान्तर में उपलब्धि दो प्रकार से होती है। अनुमान में प्रवृत्ति जिस प्रकार से होती है उस से भिन्न प्रकार से उपमान में होती है अर्थात् अनुमान का फल और शब्द प्रमाण का फल एकही प्रकार का है भिन्न नहीं)॥

सम्बन्धाच्च ॥ ४९ ॥ (११०)

परस्परसम्बन्धयुक्त शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की प्रसिद्धि होने से शब्द के ज्ञान से अर्थ का ज्ञान होता है (इस लिये भी शब्द प्रमाण भिन्न नहीं, किन्तु अनुमान में गिन लिया जावे । क्योंकि सम्बन्ध वाले साध्यसाधनसम्बन्ध के ज्ञान से साधन के ज्ञात होने पर साध्य का ज्ञान होता है) ॥

आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दादर्थसम्प्रत्ययः ॥ ५० ॥ (१११)

उ०–प्रामाणिक लोगों के उपदेशसामर्थ्य से शब्द से अर्थ का बोध होता है॥ (मुक्ति आदि अप्रत्यक्ष पदार्थों का ज्ञान केवल शब्द से नहीं होता किन्तु सत्यवक्ताओं का यह शब्द है, इस लिये अर्थ का बोध होता है । ऐसा अनुमान में नहीं ॥ (यही शब्द और अनुमान में भेद है । और यह जो कहा कि सम्बन्धयुक्त शब्द और अर्थ के ज्ञान से बोध होता है, यह भी ठीक नहीं क्योंकि

प्रमाणतोऽनुपलब्धेः ॥ ५१ ॥ (११२)

प्रमाण से प्रतीति नहीं होती (जिस इन्द्रिय से शब्द का ग्रहण होता है, उस इन्द्रिय से अर्थ का ग्रहण नहीं हो सकता। जैसे कान से आप्तोपदिष्ट शब्द द्वारा जाना कि भूमण्डल पर कुरुक्षेत्र लङ्का लण्डन आदि नगर वा देश हैं, सो यह ज्ञान कान का विषय नहीं हो सकता)॥

पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाऽभावः॥५२॥ (११३)

क्योंकि पूरण, प्रदाह और पाटन की उपलब्धि नही होती इस से भी सम्बन्ध का अभाव है। (अर्थात् जो शब्द का अर्थ के साथ व्याप्ति रूप सम्बन्ध होता तो अन्न शब्द के उच्चारण से (पूरण) मुख भर जाता। अग्नि शब्द के बोलने से (प्रदाह) जलन होती। खड्ग शब्द के कहने ही से मुख के खण्ड २ (पाटन) हो जाते। इस से सिद्ध हुआ कि शब्द अर्थ का व्याप्ति रूप सम्बन्ध नहीं है)॥

शब्दार्थव्यवस्थानादप्रतिषेधः ॥५३॥ (११४)

पूर्व०-शब्द से अर्थ के ग्रहण की व्यवस्था के देखने से व्यवस्था के कारण शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का अनुमान किया जाता है। (जो सम्बन्ध न होता तो सब शब्दों से सब अर्थों का बोध हो जाता,) इस लिये सम्बन्ध का खण्डन नहीं हो सकता॥ इस का समाधानः-

न सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य ॥ ५४ ॥ (११५)

उ०-शब्द और अर्थ की व्यवस्था सङ्केत से है अतः शब्द अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं॥ (इस शब्द का यह अर्थ है। यह जो वाच्य और वाचक के नियम का निश्चय है, इसी को समय वा सङ्केत कहते है। इस के ज्ञान से शब्द के सुनने से अर्थ का बोध होता है और जो यह सङ्केत ज्ञात न हो तो शब्द के सुनने से भी अर्थ का बोध कभी नहीं होता। जैसे किसी ने सङ्केत किया कि "पङ्कज" शब्द से "कमल" समझना। अब जिस मनुष्य को यह सङ्केत ज्ञात होगा, उसी को पङ्कज शब्द के सुनने से कमल अर्थ का ज्ञान होगा और जिस को इस सङ्केत का ज्ञान नहीं, उस को पङ्कज शब्द के सुनने से कमल अर्थ का ज्ञान नहीं होता)। तथा—

जातिविशेषे चानियमात् ॥ ५५ ॥ (११६)

किसी विशेष जाति में नियम न होने से भी (शब्द से अर्थ का ज्ञान सांकेतिक है । स्वाभाविक नहीं) ॥ क्योंकि आर्य और म्लेच्छ अपनी इच्छा के अनुसार अर्थ के ज्ञान के लिये शब्द का प्रयोग करते जाते हैं । जो शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक होता तो इच्छा के अनुसार शब्द का प्रयोग कभी नहीं हो सकता । जैसे प्रकाश से रूप का ज्ञान होना स्वाभाविक है, अर्थात् सब के लिये एकसा प्रकाश से सब किसी को रूप का ज्ञान होता है ऐसा शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं । आर्यभाषा (समय वा सङ्केत) में राम शब्द का जो अर्थ है वह म्लेच्छ भाषा में नहीं । तथा एक भाषा में भी सब प्रकरणों में किसी शब्द का एक ही अर्थ मानने का नियम नहीं ॥

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्य ॥ ५६ ॥ (११७)

पूर्व०—मिथ्यात्व, व्याघात और पुनरुक्त दोष से शब्द की प्रमाणता नहीं हो सकती ॥ (जैसे लिखा है कि जिस को पुत्र की इच्छा हो वह पुत्रेष्टि नाम यज्ञ करे परन्तु कहीं २ उस यज्ञ करने से भी पुत्र की उत्पत्ति नहीं देखते । इस से अनुमान होता है कि जिस वाक्य का दृष्टफल है,उस में मिथ्यात्व देखा गया तो जिस वाक्य का फल अदृष्ट है, जैसे " स्वर्ग की इच्छा वाला अग्निहोत्र करे, " यह बात भी मिथ्या ही होगी । व्याघात दोष से भी शब्द प्रमाण नहीं हो सकता । जैसे एक स्थान में कहा कि सूर्य के उदय होने पर होम करना चाहिये फिर अन्यत्र कहा कि सूर्योदय से पहिले होम करना चाहिये, ऐसे ही उदय काल में होम करने से दोष और बिना उदय काल में होम करने में भी दोष कहा । यह दोनों बात परस्परविरुद्ध होने से बाधित हैं । इस को व्याघात दोष (अपनी बात का आप ही खण्डन करना) कहते हैं । उक्त दोष से दो में से एक अवश्य मिथ्या होगा । ऐसे ही अभ्यास में तीनबार पहिली ऋचा बोलना और पिछली भी तीन बार । यह पुनरुक्ति दोष आता है और जिस में पुनरुक्ति हो,वह मतवाले का वाक्य कहाता है । इस लिये शब्द अप्रमाण हुआ ॥

न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात् ॥ ५७ ॥ (११८)

उ०-नहीं कर्म कर्त्ता और साधन के वैगुण्य से ॥ (जब ये तीनों पदार्थ होंगे तो निश्चय फल की सिद्धि होगी । इस में कुछ सन्देह नहीं । जैसे कर्त्ता

मूर्ख अथवा दुष्ट आचरण वाला हुआ तो यह कर्त्ता का वैगुण्य (दोष) हुआ, मिथ्या प्रयोग किया तो यह कर्म का वैगुण्य कहावेगा, ऐसे ही जो होमादि का द्रव्य अच्छा न हुआ तो यह साधन वैगुण्य हुआ। इन तीनों में से एक भी दुष्ट होगा तो फल की सिद्धि न होगी। क्योंकि लोक में भी गुण के योग से ही कार्य की सिद्धि देखने में आती है। यह लौकिक से पृथक् नहीं। इस लिये "अनृत=मिथ्यात्व" दोष देना उचित नहीं॥

अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात्॥ ५८॥ (११९)

(होम करने में जो व्याघात दोष दिया था उस का उत्तर इस सूत्र से देते हैं) अङ्गीकार करके काल का भेद करने पर दोष कहा है। इस लिये विधि के भ्रष्ट होने में यह निन्दा का कथन है, किन्तु व्याघातरूप दोष नहीं (अर्थात् शास्त्र में जहां अनेक पक्ष हैं, उन में से किसी एक पक्ष को स्वीकार करले, फिर उस का त्याग करना अनुचित है। यह तात्पर्य है)॥

अनुवादोपपत्तेश्च॥ ५९॥ (१२०)

(अभ्यास में जो पुनरुक्त दोष दिया था वह भी यथार्थ नहीं) क्योंकि अनुवाद की उपपत्ति होने से (व्यर्थ अभ्यास पुनरुक्त कहाता है और सार्थक अभ्यास को अनुवाद कहते हैं। तीन वार पहिली ऋचा पढ़नी और तीन वार पिछली बोलनी। यह अभ्यास सार्थक होने से अनुवाद है क्योंकि प्रथम और अन्त्य के तीन वार पढने से सामिधेनियों की संख्या पूरी होवी है। सामिधेनी पन्द्रह होनी चाहियें तीन२ बार न पढ़े तो संख्या न्यून होजाय। इस लिये सार्थक होने से यह अभ्यास अनुवाद कहा जायगा, पुनरुक्त नहीं)॥

वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात्॥ ६०॥ (१२१)

वाक्य विभाग के अर्थ ग्रहण से भी (शब्द प्रमाण है क्योंकि लोक में शिष्ट लोग विधि अनुवाद आदि वाक्यों का विभाग करते हैं और अनुवाद वाक्य को सार्थक मानते हैं, वैसे ही शास्त्र में भी अनुवाद वाक्य सार्थक माने जाते हैं)॥

विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात्॥ ६१॥ (१२२)

क्योंकि शास्त्रीय वाक्य तीन प्रकार से काम में लाये गये हैं—विधि वाक्य, अर्थवादवाक्य और अनुवादवाक्य॥ इन के लक्षण क्रम से आगे लिखते हैं कि:—

विधिर्विधायकः॥ ६२॥ (१२३)

जो वाक्य विधायक (आज्ञा करने वाला) होता है उसे विधिवाक्य कहते हैं । जैसे—स्वर्ग की इच्छा वाला अग्निहोत्र करे ॥

स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥६३॥ (१२४)

स्तुति, निन्दा, परकृति और पुराकल्प, यह (चार प्रकार का) अर्थवाद है ॥ (विधि वाक्य के फल कहने से प्रशंसा को स्तुति कहते हैं । क्योंकि फल की प्रशंसा सुनने से प्रवृत्ति होती है । जैसे देवों ने इस यज्ञ को करके सब को जीता । इस यज्ञ के करने से सब कुछ प्राप्त होता है । इत्यादि॥ अनिष्ट फल के कथन को निन्दा कहते हैं । यह निन्दित कर्मों के छोड़ने के लिये की जाती है । जैसे यज्ञों के बीच में ज्योतिष्टोम पहिला है इस को न करके जो और यज्ञ करता है वह गढ़े में पड़ता है ॥ और जो वाक्य मनुष्यों के कर्मों में परस्परविरोध दिखावे उसे परकृति कहते हैं । इतिहासयुक्त विधि को पुराकल्प कहते हैं । जैसे ब्राह्मणों ने सामस्तोम की स्तुति की इस लिये हम भी यज्ञ का विस्तार करें । पहिले शिष्ट लोग ऐसा करते आये वा कहते आये हैं इस को ऐतिह्य कहते हैं । अर्थ का कहना अर्थवाद है)॥

विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥६४॥ (१२५)

१ विधि और २ विधि से जो विधान किया गया उस का अनुवचन=अनुवाद कहाता है ॥ १ पहिला शब्दानुवाद और २ दूसरा अर्थानुवाद कहाता है । विहित का अनुवाद करने का प्रयोजन यह है कि स्तुति निन्दा अथवा विधि का शेष ये सब जो विहित हैं उन के विषय में किये जावें । लोक में भी तीन ही प्रकार के वचन देखने में आते हैं । जैसे अन्न पकाओ, यह विधिवाक्य कहाता है । आयु तेज बल सुख और स्फूर्ती यह सब अन्न में विद्यमान है । यह अर्थवाद वाक्य हुआ क्योंकि विधिवाक्य में अन्न पकाने की आज्ञा थी और इन से अन्न की स्तुति बोधित हुई । आप पकाइये, पकाइये, शीघ्र पकाइये । हे प्यारे ! पकाओ । यह अनुवाद वाक्य कहाते हैं क्योंकि विधिवाक्य से जो विधान किया गया, उसी का अनुवचन इन में है । जैसे लोक में वाक्यों का अर्थ ज्ञान विभाग से होता है और वह प्रमाण समझे जाते हैं ऐसे ही विभाग से अर्थ ज्ञान होने के कारण शास्त्रीय (शब्द प्रमाण) वाक्यों का भी प्रामाण्य समझो ॥

नानुवादपुनरुक्तयोर्विशेषः शब्दाभ्यासोपपत्तेः ॥६५॥ (१२६)

शङ्का-पुनरुक्त (अशुद्ध) और अनुवाद (शुद्ध) में विशेष नहीं क्योंकि दोनों ही में (चरितार्थ) शब्द के अभ्यास की उपपत्ति है। (बार २ पढ़ने से दोनों ही दुष्ट हैं) ॥

शीघ्रतरगमनोपदेशवदभ्यासान्नाविशेषः ॥ ६६ ॥ (१२७)

उक्त पूर्वपक्ष का खण्डन-पुनरुक्त और अनुवाद में विशेष नहीं, यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि अर्थवान् अभ्यास को अनुवाद और अर्थरहित (व्यर्थ) अभ्यास को पुनरुक्त कहते है। यही भेद है। जैसे किसी ने कहा "जाओ" फिर कहा "जाओ-जाओ" अर्थात् शीघ्र जाओ। देर मत करो। यह अभ्यास सार्थक है, व्यर्थ नहीं ॥

तो क्या शब्द के प्रमाणत्व दूर करने वाले हेतुओं के खण्डन करने ही से शब्द का प्रमाणत्व सिद्ध होजायगा? नहीं, और भी कारण है कि-

मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् ॥६७॥(१२८)

उत्तर—मन्त्र और आयुर्वेद के प्रामाण्य के समान शब्द का प्रामाण्य है, आप्त के प्रमाणत्व से ॥ जैसे मन्त्रो के जप से उन को फल जैसा का तैसा देखने में आता है ऐसे ही आयुर्वेद में जिस रोग की निवृत्ति के लिये जो उपाय लिखे हैं उन का फल भी वैसा ही देख मे आता है जैसा कि शास्त्र मे लिखा है। आप्त उन्हे कहते हैं जो यथार्थवक्ता, दूसरे के हित की इच्छा करने वाले, प्राणिमात्र पर दयावान्, धर्म के तत्व जानने वाले हो। ऐसे लोग प्राणियो के सुख के लिये त्यागने योग्य वा ग्रहण करने योग्य पदार्थों का उपदेश करते है। जैसे आप्तो के उपदेश से दृष्ट फल वाले वैद्यक शास्त्र का प्रमाणत्व सिद्ध होता है ऐसे ही आप्तलोगो के उपदेश होने से सत्यशास्त्रों का भी प्रामाण्य मानना चाहिये और जो दृष्ट फल वाले वैद्यक आदि के कर्त्ता ऋषि मुनि प्रामाणिक लोग हैं वही वेदादि शब्द के जानने वाले और व्याख्यान करने वाले है। इस से भी वेदादि शब्द का प्रमाणत्व सिद्ध होता है। जैसे बटलोई में एक चावल के टटोलने से सब पक गये वा अभी कच्चे हैं, इस का ज्ञान हो जाता है, वैसे ही दृष्ट फल वाले वाक्य के प्रमाणत्व से अदृष्टार्थक वाक्य का भी प्रमाणत्व अनुमान से सिद्ध है ॥

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् ॥ ६८ ॥ (१२९)

चार ही प्रमाण नहीं क्योंकि ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव ये भी प्रमाण हैं। ऐतिह्य=इतिहासप्रसिद्ध को कहते हैं जैसे श्री रामचन्द्र वा युधिष्ठिरादि हुये। इस में ऐतिह्य प्रमाण है॥ एक अर्थ के कहने से दूसरे अर्थ की प्राप्ति हो जाय उसे अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे किसी ने कहा कि यह देवदत्त मोटा है और दिन को नहीं खाता। तब इतने कहने मात्र से रात्रि का भोजन अर्थ से सिद्ध हो जायगा क्योंकि बिना भोजन के मोटा नहीं हो सकता॥ सम्भव जैसे मन में पसेरी और पंसेरी में सेर अर्थात् मन पंसेरी के बिना नहीं बन सकता तो मन के होने से पंसेरी का होना संभव प्रमाण से जाना जायगा॥ कारण के अभाव से कार्य के अभाव का ज्ञान अभाव प्रमाण से होता है॥

शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावा-नर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ॥ ६९ ॥ (१३०)

ऐतिह्य का शब्द प्रमाण में अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव का अनुमान में अन्तर्भाव होने से (प्रमाण चार ही हैं)। चतुष्ट्व का प्रतिषेध नहीं हो सकता॥ (क्योंकि ऐतिह्य=इतिहास भी आप्तोपदिष्ट होने से प्रमाण है। तथा प्रत्यक्ष से संबद्ध अप्रत्यक्ष का ज्ञान अनुमान कहाता है। देवदत्त का मोटापन जो प्रत्यक्ष दीख पड़ता है उस से अप्रत्यक्ष रात्रि के भोजन का ज्ञान अनुमान से हो जायगा। जब कहा कि देवदत्त मोटा है और दिन में नहीं खाता तब निःसन्देह रात्रि में खाता होगा, इस बात का अनुमान हो जायगा क्योंकि बिना भोजन मोटापन नहीं होता॥ संभव प्रमाण से मन में पंसेरी का ज्ञान होता है, यह भी अनुमान ही है क्योंकि पंसेरियों के समुदाय को मन कहते हैं और बिना अवयवों के अवयवी नहीं रह सकता तो जब अवयवी विद्यमान है, तब उस के अवयवों का ज्ञान अनुमान से हो, इस में क्या प्रतिबन्ध है? ऐसे ही कारण के अभाव से कार्य का अभाव अनुमान ही से ज्ञात हो जायगा, पृथक् प्रमाण मानना आवश्यक नहीं। इतने से यह सिद्ध होगया कि ऐतिह्य आदि प्रमाण तो हैं पर पृथक् प्रमाण नहीं, पहिले जो प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाण कहे हैं उन्हीं में इन का अन्तर्भाव है॥ अब अगले सूत्र से अर्थापत्ति का प्रमाणत्व उड़ाते हैं कि):—

अर्थापत्तिरप्रमाणमनैकान्तिकत्वात् ॥ ७० ॥ (१३१)

पू०-अनैकान्तिक (व्यभिचार) होने से अर्थापत्ति प्रमाण नहीं ॥ जैसे किसी ने कहा कि मेघों के न रहते वर्षा नहीं होती तब अर्थ से सिद्ध हुआ कि मेघो के रहने से वर्षा होती है। यह अर्थापत्ति प्रमाण का फल है। पर कभी २ मेघों के रहते भी वृष्टि नहीं होती, इस लिये अर्थापत्ति को व्यभिचार से प्रमाणत्व नहीं हो सक्ता ॥

अनर्थापत्तावर्थापत्त्यभिमानात् ॥ ७१ ॥ (१३२)

उ०—अर्थापत्ति में व्यभिचार नहीं आता, अनर्थापत्ति में अर्थापत्ति के अभिमान से। अर्थात् कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। इस वाक्य से विरोधी अर्थ कारण के विद्यमान रहते ही कार्य उत्पन्न होता है। यहसिद्ध हो जाता है क्योंकि अभाव का विरोधी भाव है। इस लिये कारण की विद्यमानता मे कार्य का होना—कारण की विद्यमानता का व्यभिचार नहीं है। क्योंकि यह निश्चित है कि कारण के न रहते कार्य की उत्पत्ति कभी नहीं होती। इस लिये व्यभिचार नहीं है और जो कारण के विद्यमान रहते किसी निमित्त के प्रतिबन्ध से कार्य न हो तो यह कारण का धर्म है, अर्थापत्ति का प्रमेय नहीं। अर्थापत्ति का प्रमेय तो इतना ही है कि कारण के विद्यमान रहते ही कार्य होता है। इस से यह बात सिद्ध होगई कि अनर्थापत्ति में अर्थापत्ति का अभिमान कर पूर्वपक्षकार ने निषेध किया है॥ तथा—

प्रतिषेधाऽप्रामाण्यं चानैकान्तिकत्वात् ॥७२॥ (१३३)

"अर्थापत्ति प्रमाण नही व्यभिचार होने से" यह निषेध वाक्य है। इस से अर्थापत्ति के प्रमाणत्व का खण्डन होता है न कि अर्थापत्ति की सत्ता का। अत यह निषेध भी अनैकान्तिक (व्यभिचारी) हुआ तो अप्रामाणिक से किसी वस्तु का खण्डन नहीं होसकता क्योंकि जो स्वय अप्रमाण है, वह दूसरे का निषेध क्योंकर कर सकेगा। अथवा—

तत्प्रामाण्ये वा नार्थापत्त्यऽप्रामाण्यम् ॥७३॥ (१३४)

प्रतिषेध का प्रामाण्य हो तो अर्थापत्ति का भी अप्रमाणत्व सिद्ध नहीं होसक्ता, क्योंकि कारण की विद्यमानता में कार्य के होने से अर्थापत्ति का भी अव्यभिचार विषय है॥ इस का साराश यह है कि जो कहीं व्यभिचार आने पर भी निषेध को प्रमाण मानो तो अर्थापत्ति प्रमाण क्यों नहीं। इतने

से अर्थापत्ति का प्रमाणत्व सिद्ध किया। अब अभाव के प्रमाणत्व में शङ्का समाधान हैं कि—

नाभावप्रामाण्यं प्रमेयासिद्धेः ॥७४॥ (१३५)

पू०—अभाव का प्रमाणत्व नहीं प्रमेय के असिद्ध होने से ॥ क्योंकि जिस का प्रमेय सिद्ध नहीं वह प्रमाण किस काम का। इस लिये उस का मानना व्यर्थ है।

लक्षितेष्वलक्षणलक्षितत्वादलक्षितानां तत्प्रमेयसिद्धेः ॥ ७५ ॥ (१३६)

उ०—"प्रमेय के असिद्ध होने से अभाव का प्रमाणत्व नहीं" इस का खण्डन करते हैं कि-प्रमेय सिद्ध होने से अभाव प्रमाण है। जैसे कई वस्त्र चिन्ह वाले और कई एक बिना चिन्ह के हैं और एक ही स्थान में धरे हैं जब किसी मनुष्य से कहा कि उन वस्त्रों में से बिना चिन्ह के वस्त्र ले आ, तो वह जिन वस्त्रों में चिन्ह का अभाव देखेगा, उन्हीं को ले आवेगा, तो उसको के अभाव से ज्ञान हुआ और जो ज्ञान का हेतु है वह प्रमाण कहाता है। इस लिये अभाव प्रमाण है ॥

असत्यर्थे नाभाव इतिचेन्नान्यलक्षणोपपत्तेः ॥ ७६ ॥ (१३७)

(जहां पहिले होकर फिर कुछ न रहे वहां उस का अभाव कहा जाता है, जैसे किसी स्थान में पहिले घट था और फिर वहां से हटा लिया तो वहां घट का अभाव होगया। बिना लक्षणवाले वस्त्रों में पहिले ही लक्षण न थे इस लिये उन में लक्षणाऽभाव सिद्ध नहीं) यह कहो तो ठीक नहीं क्योंकि जैसे लक्षणयुक्त वस्त्रों में लक्षणों की उपपत्ति देखते हैं वैसे ही लक्षण रहितों में लक्षणों के अभाव को देख कर वस्तु को जान लेते हैं ॥

तत्सिद्धेरलक्षितेष्वहेतुः ॥ ७७ ॥ (१३८)

पू० लक्षण वाले वस्त्रों में जो लक्षण विद्यमान हैं उन लक्षणों का अलक्षितों में अभाव कहना हेतुशून्य है क्योंकि जो विद्यमान है उस का अभाव कैसा? क्यों कि लक्षितों के लक्षण अलक्षितों में उठकर थोड़ा ही चले जाते। वह लक्षितों में लक्षणों का भाव है ही, और अलक्षितों में पहले ही से लक्षण नहीं, अतः अभाव कहना नहीं बनता ॥

न लक्षणावस्थितापेक्षसिद्धेः ॥ ७८ ॥ (१३९)

उ०—हम यह नहीं कहते कि जो लक्षण विद्यमान हैं उन का अभाव किन्तु कितनो ही में लक्षण हैं और कइयों में नहीं हैं, अब जिन में लक्षणों को नहीं देखते उन मे लक्षणाऽभाव से अपेक्षासिद्ध वस्तु को जान लेते हैं ॥

प्रागुत्पत्तेरभावोपपत्तेश्च ॥ ७९ ॥ (१४०)

अभाव दो प्रकार का होता है एक तो उत्पत्ति होने के पहिले, जैसे जब तक घट उत्पन्न नहीं हुआ तब तक उस का अभाव है और दूसरा जब कोई वस्तु नष्ट हो जाता है तब उस का अभाव होता है। लक्षणरहित वस्त्रो में पहिले प्रकार का अभाव सिद्ध है ॥

शब्द के प्रमाणत्व में "आप्तोपदेश" विशेषण है इस से शब्द का अनाप्तोपदिष्ट और आप्तोपदिष्ट होना। इन दो भेदो से ज्ञात होता है कि शब्द अनेक प्रकार के होते है, उन में सामान्य रुप से विचार किया जाता है कि शब्द नित्य है वा अनित्य—

विमर्शहेत्वनुयोगे च विप्रतिपत्तेः संशयः ॥८०॥ (१४१)

शब्द-आकाश का गुण, व्यापक नित्य और अभिव्यक्ति धर्मवाला अर्थात् क्रिया से शब्द का केवल आविर्भाव होता है, शब्द उत्पन्न नहीं होता। ऐसा कोई कहते हैं। कोई गन्ध आदि गुणो का सहचारी, द्रव्य में प्रविष्ट, अभिव्यक्तिधर्मवान् मानते हैं। शब्द आकाश का गुण, उत्पत्ति विनाश वाला है, कइयो का यह मत है और कोई आचार्य ऐसा कहते हैं कि शब्द महाभूतो के क्षोभ से उत्पन्न होता है, किसी के आश्रित नहीं, उत्पत्तिविनाशवान् है। इस लिये सन्देह होता है कि तो फिर सिद्धान्त क्या है? यही सिद्धान्त है कि "शब्द अनित्य है" इस के हेतु अगले सूत्र में कहते हैं कि–

आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्वात्कृतकवदुपचाराच्च ॥ ८१ ॥ (१४२)

शब्द—आदिमान् होने, इन्द्रियों का विषय होने और बनाई हुई वस्तुओ के समान शब्द में व्यवहार होने से अनित्य है॥ जो आदि वाले पदार्थ हैं, अनादि नहीं हैं, वे नित्य नहीं हैं, शब्द भी सादि होने से अनित्य है। दूसरे संयोगजनित कार्य पदार्थ इन्द्रियों का विषय होते हैं, नित्य कारण पदार्थ अतीन्द्रिय होते हैं। अब शब्द इन्द्रियविषय होने से अनित्य हुवा। तीसरे जैसे घड़ा कपड़ा आदि बनाये जाते है वैसे शब्द भी बोल कर बनाया हुवा कहा जाता है इस लिये भी शब्द अनित्य हुवा ॥

न घटाभावसामान्यनित्यत्वात् नित्येष्वप्यनित्यवदुपचाराच्च ॥ ८२ ॥ (१४३)

पूर्वपक्ष—नहीं, क्योंकि घटाभाव के नित्यत्व से और नित्यों में भी अनित्य के तुल्य उपचार होने से (व्यभिचार आता है इस लिये उक्त हेतुओं से शब्द का अनित्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे कहा था कि आदिमान् होने से शब्द अनित्य है यह ठीक नहीं, क्योंकि घटाभाव भी आदिमान् है। जब तक घट विद्यमान है तब तक उस का अभाव नहीं और जब घट फूट गया तब उस का अभाव होगया वह घटाभाव मिट्टी के पृथक् २ होजाने से उत्पन्न होता है और आगे सर्वदा अभाव रहेगा इस लिये नित्य है, पर आदिमान् है। जो कहा था कि इन्द्रियविषय होने से शब्द अनित्य है इस में भी व्यभिचार है क्योंकि घटत्व पटत्व और ब्राह्मणत्व आदि जातियों का भी ग्रहण इन्द्रियों से ही होता है पर जाति नित्य है, यह सिद्धान्त है, तो इन्द्रियविषयत्व में भी व्यभिचार आगया। और जो कृतकवत् उपचार दिखलाया था उस में भी व्यभिचार है क्योंकि नित्यों में भी अनित्यत्व जैसा उपचार किया जाता है। जैसे वृक्ष का प्रदेश कम्बल का स्थान, यह व्यवहार होता है, वैसे ही-आकाश का प्रदेश आत्मा का स्थान यह व्यवहार भी होता है। वास्तव में आकाश का प्रदेश (छोर) वा आत्मा का स्थान विशेष नहीं है पर कहने में आता है, इस लिये उक्त हेतु भी ठीक नहीं ॥

तत्त्वभाक्तयोर्नानात्वविभागादव्यभिचार ॥ ८३ ॥ (१४४)

उ०—तत्त्व (पारमार्थिक) और भाक्त (गौण) के भेद (विवेक) से व्यभिचार नहीं आता (नित्य वही है जिस की कभी उत्पत्ति और विनाश न हों, जो सब काल में एक रूप से विद्यमान हो जैसे आत्मा आकाश आदि पदार्थ हैं। यथार्थ नित्यत्व इन्हीं में है। घटाभाव में उक्त प्रकार का नित्यत्व नहीं है क्योंकि यह घटाभाव उत्पत्तिमान् है इस लिये इस का नित्यत्व काल्पनिक है तात्त्विक नहीं। जिस प्रकार का शब्द है उस प्रकार का कोई कार्य नित्य देखने में नहीं आता, इस लिये व्यभिचार नहीं है) ॥

सन्तानानुमानविशेषणात् ॥ ८४ ॥ (१४५)

शब्द में सन्तान (परम्परा) के अनुमान विशेषण से भी शब्द अनित्य

ही है ॥ इन्द्रिय से शब्द का ज्ञान होता है, केवल इसी लिये शब्द को अनित्य नहीं कहते हैं किन्तु इन्द्रिय के सामीप्य से शब्द का ज्ञान होता है तौ सामीप्य के लिये एक शब्द से दूसरा और फिर उस से तीसरा इसी प्रकार शब्द की परम्परा का अनुमान है क्योंकि कर्ण इन्द्रिय तौ शब्द के स्थान में आ ही नहीं सकता और सामीप्य जब तक न हो तब तक शब्द का ज्ञान होना असंभव है । इस लिये शब्द अनित्य है ॥

और जो कहा था कि नित्यो में भी अनित्य का सा उपचार होता है, यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि —

कारणद्रव्यस्य प्रदेशशब्देनाभिधानान्नित्ये-
ष्वप्यव्यभिचारइति ॥ ८५ ॥ (१४६)

कारण द्रव्य का प्रदेश शब्द द्वारा कथन होने से नित्यो में भी व्यभिचार नहीं आ सकता । जैसे कहते हैं कि "आकाश का प्रदेश" "आत्मा का प्रदेश" इस से आकाश और आत्मा का कारण द्रव्य नहीं कहा जाता, जैसा घटादि अनित्य पदार्थों का, क्योंकि परिच्छिन्न द्रव्य के साथ जो आकाश का संयोग है, वह आकाश का व्यापक नहीं हो सकता, क्योंकि आकाश बहुत बड़ा है, उस का घटादि पदार्थों के साथ जो संयोग है, वह एक देश मे है, सब देशों में नहीं, यही समाधान " आत्मा का प्रदेश " इत्यादि में जानना चाहिये । जैसे सयोग अव्याप्यवृत्ति है वैसे ही शब्द आदि भी अव्याप्यवृत्ति हैं, क्योंकि ये भी एक देश में रहते है, सब देश में नहीं, जो वस्तु किसी प्रदेश मे हो और किसी मे न हो उसे अव्याप्यवृत्ति कहते हैं ॥

प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च ॥८६॥ (१४७)

उच्चारण करने के पहिले शब्द उपलब्ध नहीं होता, यदि होता तौ सुन पड़ता । तथा आवरणादि भी उपलब्ध (पाये) नहीं जाते इस से शब्द अनित्य है । (यदि कहो कि उच्चारण के पूर्व भी शब्द था तौ, पर आवरण आदि रोक होने से सुनने में नहीं आता था, यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि जहा किसी प्रकार की रोक नहीं, वहा भी जब तक उच्चारण न करो तब तक कोई शब्द सुनाई नहीं दे ा, इस से सिद्ध है कि उच्चारण करने के पहिले शब्द न था, पीछे उत्पन्न हुआ । जो उत्पन्न होकर नष्ट हो वह अनित्य कहाता है । इस से शब्द अनित्य है ॥ इस सिद्धान्त पर आक्षेप करते हैं कि:—

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादावरणोपपत्तिः ॥ ८७ ॥ (१४८)

पू० यदि अनुपलम्भ (ज्ञात न होने) से आवरण नहीं है, तो हम कह सकते हैं कि आवरण की अनुपलब्धि भी अनुपलम्भ (ज्ञात न होने) से है अनुपलब्धि से आवरण का निषेध नहीं हो सकता ॥

अनुपलम्भादनुपलब्धिसद्भावन्नावरणानुपपत्तिरनुपलम्भात् ॥ ८८ ॥ (१४९)

जैसे अनुपलम्भ (ज्ञात न होने) से भी अनुपलब्धि है, ऐसे मानते हो, तद्वत् केवल उपलब्ध न होना आवरण का अभावक नहीं, उपलब्धि नहीं भी है तो भी आवरण है ॥

अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः ॥ ८९ ॥ (१५०)

उ० जो ज्ञान का विषय होता है वह है, और जिस का ज्ञान नहीं होता वह नहीं है, यह सिद्धान्त है। उपलब्धि के अभाव को अनुपलब्धि कहते हैं, अभावरूप होने से उस की उपलब्धि नहीं होती। आवरण तो भावरूप पदार्थ है उस की उपलब्धि अवश्य होनी चाहिये थी और उपलब्धि होती नहीं इस लिये आवरण नहीं है ॥

अस्पर्शत्वात् ॥ ९० ॥ (१५१)

पू० जैसे आकाश का स्पर्श नहीं होता और वह नित्य है ऐसे ही शब्द का भी स्पर्श नहीं होता इस लिये शब्द भी नित्य है ॥

न कर्मानित्यत्वात् ॥ ९१ ॥ (१५२)

व्यभिचारी होने से अस्पर्शत्व हेतु ठीक नहीं। क्योंकि कर्म का भी स्पर्श नहीं होता पर वह अनित्य है ॥

नाणुनित्यत्वात् ॥ ९२ ॥ (१५३)

परमाणु का स्पर्श होता है पर नित्य है इस लिये अस्पर्शत्व हेतु से शब्द का नित्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता। दो उदाहरणों में व्यभिचार आजाने से अस्पर्शत्व हेतु दुष्ट है। इन दोनों सूत्रों का अभिप्राय यह है कि जिस पदार्थ का स्पर्श नहीं होता वह नित्य होता है जैसे 'आकाश' ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो उत्तर यह है कि क्रिया का स्पर्श नहीं होता पर अनित्य है। अर्थात् यह नियम नहीं है कि जिस २ का स्पर्श न हो वह २ नित्य ही हो।

और यह भी नियम नहीं कि जिस २ का स्पर्श हो वह २ अनित्य हो। देखो परमाणु का स्पर्श होने पर भी वह नित्य है ॥

सम्प्रदानात् ॥ ९३ ॥ (१५४)

पू०-शब्द का सम्प्रदान होता है इस लिये नित्य है। क्योंकि जो पदार्थ दिया जाता है, वह पहिले से विद्यमान रहता है। आचार्यादि शिष्यादि को शब्द देता है इस से पहिले से शब्द विद्यमान है, यह मानना पड़ेगा ॥

तदन्तरालानुपलब्धेरहेतुः ॥ ९४ ॥ (१५५)

उ० देनेवाले और लेने वाले के बीच में शब्द की उपलब्धि नहीं होती, इस लिये उक्त हेतु ठीक नहीं। जो वस्तु विद्यमान होती है वह देने वाले से अलग होके लेने वाले के पास पहुंचती है, यह बात शब्द में नहीं घटती इस लिये सम्प्रदान कहने से शब्द नित्य नहीं हो सकता ॥

अध्यापनादप्रतिषेधः ॥ ९५ ॥ (१५६)

पू०-पढ़ाये जाने से निषेध नहीं हो सकता। जो संप्रदान न होता तो पढ़ाना नहीं बन सकता। इस लिये शब्द का देना मानना चाहिये ॥

उभयोःपक्षयोरन्यतरस्याध्यापनादप्रतिषेधः ॥९६॥ (१५७)

उ०-सन्देह की निवृत्ति न होने से दोनों पक्षों में पढ़ाना समान है। क्या जाने गुरुका शब्द शिष्य में पहुंचता है अथवा शिष्य भी जैसा गुरु बोलता है वैसा ही आप उच्चारण करता है इस लिये पढ़ाना सम्प्रदान का हेतु नहीं और सम्प्रदान न होने से शब्द नित्य नहीं होसकता ॥

अभ्यासात् ॥ ९७ ॥ (१५८)

पू०-जिस का अभ्यास किया जाता है वह नित्य देखा गया है जैसे पांच बार देखता है, तो नित्य रूप फिर फिर देखा जाता है। ऐसे ही शब्द में भी अभ्यास होता है कि दशबार वाक्य पढ़ा, बीस बार पढ़ा, इस लिये नित्य शब्द का वार वार उच्चारण करना अभ्यास है। अभ्यास तभी बन सकता है जब कि शब्द उच्चारण से पूर्व भी नित्य वर्त्तमान हो ॥

नान्यत्वेप्यभ्यासस्योपचारात् ॥९८॥ (१५९)

उ० नहीं क्योंकि नित्य न होते हुवे भी अभ्यास का व्यवहार होता है। जैसे दो बार अग्निहोत्र करता है, तीन बार होम करता है दो बार भोजन करता है इस व्यभिचार से यह हेतु ठीक नहीं, क्योंकि उदाहरणों से सिद्ध हो गया कि होम भोजन आदि क्रिया अनित्य हैं तो भी अभ्यास का उपचार होता है ऐसे ही अनित्य शब्दों का अभ्यास होता है॥

अन्यदन्यस्मादनन्यत्वादनन्यदित्यन्यताऽभाव ॥ ९९ ॥ (१६०)

पू०—प्रतिषेध हेतु में जो अन्य शब्द का प्रयोग किया था, उस का खण्डन इस सूत्र से करते हैं कि जिस को अन्य कहते हो, वह अपने साथ अनन्य होने से अन्य नहीं हो सकता, इस लिये अन्यता का अभाव हुआ। तात्पर्य यह है कि अन्य (भिन्न) दूसरे का भेद उस में हो सकता है अपने साथ तो भेद नहीं, तो अनन्य हुआ और जो अनन्य है वह अन्य हो नहीं सकता इस लिये अन्यत्व का अभाव सिद्ध होता है॥

तदभावे नास्त्यनन्यता तयोरितरेतरापेक्ष सिद्धे ॥ १०० ॥ (१६१)

उ०—सिद्धान्ती कहता है कि अन्यत्व का अभाव मानो तो अनन्यता भी न बनेगी क्योंकि इन दोनों की सिद्धि परस्पर सापेक्ष है॥

जैसे कहा कि "अनन्य" तो यह समस्त पद है इस का अर्थ यह है कि 'अन्य नहीं' यह 'अनन्य' कहाता है। जो उत्तर पद अन्य न होता तो किस का निषेध किया जाता। इस लिये अनन्य शब्द दूसरे अन्य शब्द की अपेक्षा से सिद्ध होता है। इस से जो पूर्वपक्ष में कहा था कि अन्यत्व का अभाव है, सो यथार्थ नहीं॥

विनाशकारणानुपलब्धे ॥ १०१ ॥ (१६२)

पू०-शब्द के नाश का कारण नहीं जान पड़ता। इस लिये शब्द नित्य है॥ जो पदार्थ अनित्य होता है उस का नाश किसी कारण से होता है, जैसे वस्त्र के कारण तन्तुओं का संयोग जब नष्ट (छोटे अलग २) होते हैं तब वस्त्र नष्ट होता है। यदि शब्द अनित्य होता तो उस का नाश जिस कारण से होता वह कारण जान पड़ता॥

अश्रवणकारणानुपलब्धेःसततश्रवणप्रसंगः ॥ १०२ ॥ (१६३)

उ०—शब्द न सुन पड़ने का कारण उपलब्ध न होने से सर्वदा श्रवण होना चाहिये। पर ऐसा नहीं होता इस लिये शब्द नित्य नहीं ॥

उपलभ्यमाने चानुपलब्धेरसत्त्वादनपदेशः ॥१०३॥ (१६४)

यदि कहो कि न सुनाई पड़ने का कारण अनुमान से उपलब्ध है, तौ अनुपलब्धि के असत्त्व होने से यह कहना नहीं बनता कि कारण उपलब्ध नहीं ॥

पाणिनिमित्तप्रश्लेषाच्छब्दाभावेनानुपलब्धिः ॥१०४॥ (१६५)

घण्टे को बजा कर उस को हाथ से पकड़ लो तौ शब्द रुक जाता है, उपलब्ध नहीं होता (यदि नित्य होता तौ ऐसा क्यों होता ?) ॥

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्व-
प्रसंगः ॥ १०५ ॥ (१६६)

इस सूत्र पर वृत्तिकार ने पूर्व वा उत्तर कोई पक्ष नहीं लिखा, प्रत्युत यह सूत्र ही अपनी व्याख्या में नहीं माना, परन्तु वात्स्यायन मुनि ने भाष्य मे व्याख्या की है इस लिये हम भी लिखते हैं—

शब्द के विनाश का कारण (हाथ से पकड़ने में) उपलब्ध नहीं होता तब शब्द स्थिर रहना चाहिये था, और उस दशा में शब्द की नित्यता पाई जाती ॥

अस्पर्शत्वादप्रतिषेधः ॥ १०६ ॥ (१६७)

पू०—शब्द के स्पर्शरहित होने से (१६५) सूत्र का दोष नहीं आता। (क्योंकि शब्द आकाश का गुण है, आकाश में स्पर्श नहीं । तब हाथ लगाने से शब्दाऽभाव कैसे माना जाय ?) ॥

विभक्त्यन्तरोपपत्तेश्च समासे ॥ १०७ ॥ (१६८)

उ०—समास में जहां एक द्रव्य में विभक्त=भिन्न २ प्रकार का शब्द भी सुनने में उपपन्न होता है॥ (कुछ यही एक बात नहीं कि घंटा बजा कर छू देने से शब्द रुक जाता हो, किन्तु एक ही घंटे वा तुरी आदि में अनेक विभागों=विभक्तियों के शब्द को हम सुनते हैं, इस से जानते हैं कि आकाश के

सिवाय अन्य द्रव्य भी चाहे आकाश में ही स्थित होते हैं, पर शब्दभेद के कारण हैं) ॥

आगे वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक शब्दों में से वर्णात्मक शब्द के विषय में विचार करते हैं कि—

विकारादेशोपदेशात्संशयः ॥ १०८ ॥ (१६९)

शब्द (वर्णात्मक) में विकार और आदेश किये जाते हैं इस से संशय होता है ॥ (कि इ को य् (सुधी-उपास्यः=सुध्युपास्यः) किया जाता है तब इ का विकार य् होता है, या इ के स्थान में एक स्वतन्त्र दूसरा वर्ण य् (जो इ से नहीं बना) प्रयुक्त होता है ?) ॥

प्रकृतिविवृद्धौ विकारविवृद्धेः ॥ १०९ ॥ (१७०)

प्रकृति (ई इत्यादि) बड़ी होने पर विकार (य् इत्यादि) भी बड़े होने चाहियें थे ॥ (पर ऐसा देखने में नहीं आता । इस लिये इ और य् में कारण का विकार कार्य यया मानना ठीक नहीं) ॥

न्यूनसमाधिकोपलब्धेर्विकाराणामहेतुः ॥ ११० ॥ (१७१)

पूर्व सूत्र में यह आक्षेप करते हैं कि—विकारों के न्यून, समान और अधिक भी उपपन्न होने से यह कोई हेतु नहीं कि (ई बड़ी हो तो य् भी बड़ा होना चाहिये था । बड़े कारणों के छोटे कार्य भी होते हैं, जैसे बहुत रुई का थोड़ा कपड़ा; समान कारण के समान कार्य विकार भी होते हैं, जैसे जितना सुवर्ण उस के उतने ही कुण्डलादि, और न्यून कारण के अधिक कार्य विकार भी देखे जाते हैं, जैसे छोटे से वटबीज कारण का बड़ा भारी वटवृक्ष विकार कार्य है) ॥

नाऽतुल्यप्रकृतीनां विकारविकल्पात् ॥ १११ ॥ (१७२)

समाधान—यह आक्षेप इस लिये नहीं बनता कि—अतुल्य=भिन्न २ प्रकृतियों के विकारविकल्प=भिन्न २ कार्य होते हैं (घट से आम्र तो उत्पन्न नहीं होता । अब यदि इ का विकार य् होता तो इ और य् में सजातीयता होती । ऐसा नहीं है । इस लिये विकार मानना ठीक नहीं) ॥

द्रव्यविकारवैषम्यवद्वर्णविकारविकल्पः ॥११२॥ (१७३)

आक्षेप की पुनः पुष्टि करते हैं कि– जैसे द्रव्यों से विषमविकार हो जाते है वैसे ही वर्णों= अक्षरों से भी विषमविकार वा विकार के विकल्प समझ लो (अर्थात् जैसे मीठे दूध से खट्टा दही आदि विषमविकार वा कार्य हो जाते हैं, ऐसे ही ह्रस्व वा दीर्घ इ वर्ण से भी विषम य् विकार होजाना अनुपपन्न नहीं) ॥

न विकारधर्मानुपपत्तेः ॥११३॥ (१७४)

फिर आक्षेप की पुष्टि का खण्डन करके अपने पक्ष का समाधान करते हैं कि–विकार के धर्म न पाये जाने से (इ का विकार य्) नहीं ॥ (जैसे मिट्टी के विकार मिट्टी, सुवर्ण के विकार सुवर्ण होते हैं, ऐसा धर्म (नियम) इ को य् होने आदि में नहीं पाया जाता। इस लिये विकार मानना ठीक नहीं) ॥

विकारप्राप्तानामपुनरावृत्तेः ॥ ११४ ॥ (१७५)

जो वस्तु विकार को प्राप्त हो जाते हैं वे फिर अपनी प्रकृति (स्वरूप) को प्राप्त नहीं होते, (इस से भी इ का विकार य् नहीं। क्योंकि दूध का दही बनकर फिर उसी दही का दूध नहीं बनता, पर य् का तो फिर इ भी होता देखा जाता है। इस लिये विकार मानना ठीक नहीं) ॥

सुवर्णादीनां पुनरापत्तेरहेतुः ॥ ११५ ॥ (१७६)

पुनः आक्षेप है कि–सुवर्णादि के पुनः प्रकृति (स्वरूप) में आ जाने से यह हेतु (जो कि १७५ में कहा) ठीक नहीं (सुवर्ण का विकार कुण्डलादि, और कुण्डलादि का फिर सुवर्ण जैसे हो जाता है, वैसे ही इ का य् और फिर य् को इ भी जानो) ॥

तद्विकाराणां सुवर्णभावाऽव्यतिरेकात् ॥ ११६ ॥ (१७७)

फिर समाधान करते हैं कि— सुवर्ण के विकार सुवर्णभाव से अलग नहीं होते, इस कारण (यह दृष्टान्त ठीक नहीं जो कि १७६ में कहा है क्योंकि सुवर्ण का तो विकार कुण्डलादि भी सुवर्ण ही है, पर इ का विकार य् को मानें तो य् ही इ तो नहीं होता। इस लिये सुवर्ण के दृष्टान्त से वर्ण-विकार मानना ठीक नहीं) ॥

वर्णत्वाऽव्यतिरेकाद्वर्णविकाराणामप्रतिषेधः॥ ११७ ॥ (१७८)

आक्षेप की पुष्टि में फिर कहते हैं कि-वर्णत्व से अलग न होने से वर्णों के विकार का प्रतिषेध नहीं हो सकता (जैसे सुवर्ण का विकार सुवर्ण है वैसे इ " वर्ण " का विकार य् भी " वर्ण " ही तो है) ॥

पुनः समाधान करते हैं कि:-

सामान्यवतो धर्मयोगो न सामान्यस्य ॥ ११८ ॥ (१७९)

सामान्य वाले (सुवर्ण) का धर्मयोग है, न कि सामान्य (सुवर्णत्व) का (अर्थात् सुवर्ण का सुवर्णत्व तो स्वयं धर्म है, उस के कुण्डलादि धर्म नहीं हो सकते किन्तु सुवर्ण के हो सकते हैं । इसी प्रकार इ में वर्णत्व है वह किस वर्ण का वर्णत्व है ? क्या जिस वर्ण का वर्णत्व इ में है, उसी का वर्णत्व य् में भी कोई कह सकता है ? जब नहीं कह सकता तो वर्णत्व सामान्य के धर्म इ को य् इत्यादि नहीं हो सकते । भला निवृत्त होने वाला इत्व-उत्पन्न होने वाले यत्व की प्रकृति कैसे हो सकता है ?) ॥

नित्यत्वे विकारादनित्यत्वे चानवस्थानात् ॥ ११९ ॥ (१८०)

वर्णों के नित्य होने पर विकार से और अनित्य होने पर न ठहर सकने से (विकारपक्ष ठीक नहीं, क्योंकि नित्य में विकार सम्भव नहीं । अनित्य में इस लिये विकार मानना नहीं हो सकता कि यदि वर्ण उत्पन्न हो कर नष्ट हो जाता है तो एक वर्ण दूसरे वर्ण का कारण नहीं, तब एक वर्ण का दूसरा वर्ण विकार कैसे माना जावे ?) ॥

नित्यानामतीन्द्रियत्वात्तद्धर्मविकल्पाच्च वर्ण-विकाराणामप्रतिषेधः ॥ १२० ॥ (१८१)

विकारपक्ष की पुष्टि में कहते हैं कि-नित्य वर्णों के विकारों का प्रतिषेध इस लिये नहीं हो सकता कि नित्य पदार्थों के धर्म कई प्रकार के (विकल्पित) हैं और अतीन्द्रिय हैं ॥ (अर्थात् कोई नित्य पदार्थ इन्द्रियों का विषय नहीं हैं और 'च' कार से कोई इन्द्रियों के विषय हैं जैसे गोत्व जाति, और नित्य पदार्थों के धर्म अनेक हैं, कोई विकारी, कोई अविकारी । इस वर्ण नित्य होने पर भी विकारी माने जा सकते हैं) ॥

अनवस्थायित्वे च वर्णोपलब्धिवत्तद्विकारोपपत्तिः ॥१२१॥(१८२)

अब अनवस्थान (न ठहर सकने) के दोष का भी उत्तर देते हैं कि-न ठहरने वाला होने पर भी जैसे वर्ण उपलब्ध (विषय) हो जाता है वैसे उस को विकार की भी उपपत्ति जानो ॥

विकारधर्मित्वे नित्यत्वाभावात् कालान्तरे विकारोपपत्तेश्चाऽप्रतिषेधः ॥ १२२ ॥ (१८३)

१८१ । १८२ में जो विकारपक्ष के समाधान किये थे, उन का खण्डन करते हैं कि-विकार वाला होने पर नित्यता नहीं रहती (क्योंकि धर्मविकल्प नहीं देखा जाता कि कोई नित्य पदार्थ विकारी हों और कोई अविकारी, किन्तु सब नित्य पदार्थ अविकारी होते हैं) और अन्य काल में विकार उपपन्न होने से भी उत्तर (वर्णोपलब्धिवत्) ठीक नहीं बनता (क्यों कि इकारश्रवणकाल में यकार सर्वथा नहीं रहता और यकारश्रवणकाल में इकार नहीं) ॥

प्रकृत्यनियमाद्वर्णविकाराणाम् ॥ १२३ ॥ (१८४)

और भी विकारपक्ष मानने में दोष है कि-वर्णविकारो में प्रकृति का नियम नहीं (अर्थात् जैसे दूध से दही विकार में दूध प्रकृति और दही विकार है, ऐसा नियम है, वैसे यह नियम नहीं कि इकार प्रकृति से ही यकार विकार होता हो, प्रत्युत " विध्यति " इत्यादि प्रयोगों में यकार प्रकृति से इकार विकार हो गया, तो प्रकृति का नियम न होने से भी विकार पक्ष मानना ठीक नहीं) ॥

अनियमे नियमान्नाऽनियमः ॥ १२४ ॥ (१८५)

उक्त १८४ सूत्र का छलवाद से प्रतिवाद करते हैं कि-अनियम के नियत होने से अनियम न रहा (अर्थात् जब यह बात नियमित हो गई कि वर्ण विकारो में प्रकृति का नियम नहीं, तो यह भी एक प्रकार से नियम होगया, बस अनियम बताना ठीक नहीं रहा) ॥

फिर खण्डन करते हैं कि—

नियमाऽनियमविरोधादनियमे नियमाच्चाऽप्रतिषेधः ॥ १२५ ॥ (१८६)

नियम और अनियम इन दोनों में परस्पर विरोध होने और अनियम

कि नियत होने से (१८६) का यह कथन ठीक नहीं कि " अनियम न
अब इस विचार को समाप्त करते हुवे आचार्य कहते हैं कि—

गुणान्तरापत्त्युपमर्दह्रासवृद्धिलेशश्लेषेभ्यस्तु
विकारोपपत्तेर्वर्णविकारः ॥ १२६ ॥ (१८७)

(उ) वर्णप्रकृति से वर्णान्तर विकार मानना तो उक्त तर्क विरु
द्ध सिद्ध हो चुका, हां—गुणान्तरापत्ति, उपमर्द, ह्रास, वृद्धि, लेश और श्
से तो विकार की उपपत्ति होने से वर्णविकार माना जासकता है (गुणा
पत्ति=उदात्त को अनुदात्त होना इत्यादि, उपमर्द=अस् का भू और ब्रू को
इत्यादि, ह्रास=दीर्घ का ह्रस्व हो जाना, वृद्धि=ह्रस्व का दीर्घ हो जा
लेश=जैसे अस् के अ का लोप हो जाना, श्लेष=आगम जैसे इट् आदि,
से वर्णों में विकार का व्यवहार है) ॥"

ते विभक्त्यन्ताः पदम् ॥ १२७ ॥ (१८८)

वे (वर्ण) विभक्ति अन्त में लगे हुवे 'पद' कहाते हैं ॥

तदर्थे व्यक्त्याकृतिजातिसन्निधावुपचारात्संशयः ॥१२८॥ (१

उस (पद) के अर्थ (पदार्थ) में व्यक्ति, आकृति और जाति के सन्नि
में उपचार से संशय होता है (कि गौः पद से उस का पदार्थ गोत्वादि,
व्यक्ति वा गौ आकृति इन में से क्या है ? या सब ही गो पदार्थ हैं ?)

याशब्दसमूहत्यागपरिग्रहसंख्यावृद्ध्यपचयवर्णसमा
सानुबन्धानां व्यक्तावुपचाराद्व्यक्तिः ॥१२९॥ (१९०)

प्रथम व्यक्ति को पदार्थ मानने वालों का मत कहते हैं कि—या श
समूह, त्याग, ग्रहण संख्या, वृद्धि, ह्रास, वर्ण समास=बैठना, अनुबन्ध=स
इन सब का व्यक्ति में उपचार (प्रयोग) किया जाने से व्यक्ति (ही पद
अर्थ है । जो गौ जाती है यह याशब्द गौओं का समूह गौ का दान,
का ग्रहण=लेना १० गौयें, गौ की वृद्धि गौ का ह्रास गौर आदि गौ के
गौ का बैठना, गौ का सुख इत्यादि सब प्रयोगों में जाति और आकृति

का ग्रहण नहीं, किन्तु व्यक्ति का ही ग्रहण देखा जाता है, अतः व्यक्ति ही पदार्थ है) ॥

न तदनवस्थानात् ॥ १३० ॥ (१९१)

नहीं, क्योंकि व्यक्ति (पदार्थ) मानने में व्यवस्था नहीं होती (क्योंकि ‌। खड़ी है, इत्यादि प्रयोगों में जाति का त्याग तो नहीं, किन्तु जातिसहित ‍व्यक्ति का ग्रहण है। इसी प्रकार दान, आदान, संख्या आदि में भी समझिये)॥

अब इस बात का समाधान करते हैं कि तो फिर (१९०) के अनुसार व्यक्ति उपचार क्यों है ?

सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः ॥ १३१ ॥ (१९२)

जैसे सहचार में-यष्टिपद से यष्टि वाला ब्राह्मण, स्थान में-मञ्च से मञ्चस्थ पुरुष, तादर्थ्य (उस के लिये) में-कट से कटार्थक तृण, वृत्त (चलन) में-यम से तत्तुल्य राजा, तोल में-धौन मन सत्तू से उतने सत्तू, धारण में-तुलाचन्दन से तुला में धरा चन्दन, सामीप्य में-गङ्गा से गङ्गातीर, संयोग में-काले रङ्ग से रङ्गी साड़ी (वस्त्र) काली साड़ी, साधन में अन्न से प्राण, आधिपत्य में-कुल वा गोत्र से उस कुल का मुख्य पुरुष ग्रहण किया जाता है, ऐसे ही लक्षणा से जो वह न हो उस में भी उस का प्रयोग होता है (तब गौ पद से गोत्व ग्रहण सुगम है)॥

आकृतिस्तदपेक्षत्वात्सत्त्वव्यवस्थानसिद्धेः ॥१३२॥ (१९३)

अब यह पक्ष खड़ा करते हैं कि आकृति ही पद का अर्थ है-प्रत्येक प्राणी (यह गौ है, यह घोड़ा है इत्यादि) की व्यवस्था की सिद्धि आकृति (शकल सूरत) आकार की सापेक्ष होने से आकृति (पद का अर्थ है) ॥

अब जाति को पद का अर्थ मानने का पक्ष कहते हैं कि-

व्यक्त्याकृतियुक्तेऽप्यप्रसंगात् प्रोक्षणादीनां मृद्गवके जातिः ॥ १३३ ॥ (१९४)

व्यक्ति और आकृति युक्त भी मट्टी की गाय में गौ के स्नान आदि का व्यवहार नहीं, इस लिये जाति (पद का अर्थ है) ॥

नाकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वाज्जात्यभिव्यक्तेः ॥ १३४ ॥ (१९५)

नहीं (१९४ का कथन ठीक नहीं) क्योंकि जाति की पहचान भी आकृति और व्यक्ति की अपेक्षा रखती है। (तो फिर व्यक्ति आकृति और जाति में से पद का अर्थ क्या है ? कहते हैं कि-)

व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः ॥ १३५ ॥ (१९६)

व्यक्ति आकृति और जाति (तीनों) पद का अर्थ हैं (क्योंकि शब्द की शक्ति तीनों में है) ॥

व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयो मूर्त्तिः ॥ १३६ ॥ (१९७)

गुणविशेष (गुरुत्व, कठिनत्व, द्रवत्व आदि) की आश्रय वाली मूर्त्ति को व्यक्ति कहते हैं ॥

आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या ॥ १३७ ॥ (१९८)

जिस से जाति और जाति के चिन्ह विख्यात हों उस को आकृति कहते हैं। (प्राणी और तन के अङ्गों की रचनाविशेष जाति का चिन्ह आकृति हुई) ॥

समानप्रसवात्मिका जातिः ॥ १३८ ॥ (१९९)

(द्रव्यों में आपस का भेद होवे हुवे भी) जिस से समानप्रसव पाया जाता है वह जाति है ॥

इति द्वितीयाऽध्याये द्वितीयमाह्निकम् ॥ २ ॥

इति न्यायदर्शनभाषानुवादे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

ओ३म्

अथ तृतीयाध्यायः

प्रमाणों की परीक्षा हो चुकी, अब प्रमेयो की परीक्षा की जायगी। प्रमेयों में पहिला और मुख्य "आत्मा" है, इस लिये प्रथम आत्मा की ही विवेचना की जाती है। क्या देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और वेदना के संघात का ही नाम आत्मा है या आत्मा इन से कोई भिन्न पदार्थ है? पहिले सूत्र में इन्द्रियचैतन्यवादियो के मत का निराकरण करते हैं:—

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् ॥ १ ॥ (२००)

उ०–दर्शन और स्पर्शन से एक ही अर्थ का ग्रहण होने से (आत्मा देहादि से भिन्न है) ॥

जिस विषय को हम आंख से देखते हैं, उसी को त्वचा से स्पर्श भी करते हैं। नींबू को देख कर रसना में पानी भर आता है। यदि इन्द्रिय ही चेतन होते तो ऐसा कदापि नहीं हो सकता था, क्योकि "अन्यदृष्टमन्यो न स्मरति" देवदत्त के देखे हुवे अर्थ का यज्ञदत्त को कभी स्मरण नहीं होता। फिर आख के देखे हुवे विषयका जिह्वा से वा त्वचा से क्योंकर अनुभव किया जाता। जो कि हम विना किसी सन्देह के एक इन्द्रिय के अर्थ को दूसरे इन्द्रिय से ग्रहण करते हैं, इस से सिद्ध है कि उस अर्थ के ग्रहण करने में इन्द्रिय स्वतन्त्र नहीं हैं, किन्तु इन के अतिरिक्त ग्रहीता कोई और है जो इन के द्वारा एककर्तृक अनेक प्रत्ययों को ग्रहण करता है और वही चेतन आत्मा है ॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:—

न, विषयव्यवस्थानात् ॥ २ ॥ (२०१)

पू०– उक्त कथन ठीक नहीं है, विषयों की व्यवस्थिति होने से ॥

देहादि संघात के अतिरिक्त और कोई आत्मा नहीं है, विषयों की व्यवस्था होने से। इन्द्रियो के विषय नियत हैं, आख के होने पर रूप का ज्ञान होता है, न होने पर नहीं होता और यह नियम है कि जो जिस के होने पर होता और न होने पर नहीं होता, वह उसी का समझा जाता है। इस लिये

रूपग्रहण नेत्र का है क्योंकि वही उस को देखता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रि भी अपने २ अवधारण में स्वतन्त्र हैं। जब इन्द्रियों के होने से ही विषय की उपलब्धि होती है तब उस से भिन्न अन्य किसी चेतन की कल्पना क्यों की जाय? अब इस का समाधान करते हैं:-

तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः ॥३॥ (२०२)

उ०-उक्त विषयव्यवस्थिति से ही आत्मा की सिद्धि होने से निषेध नहीं हो सकता।

इन्द्रियों के विषयों की व्यवस्था होने से ही (उन से भिन्न चेतन) आत्मा की सत्ता मालूम पड़ती है। यदि इन्द्रियों के विषय नियत न होते अर्थात् एक इन्द्रिय से दूसरे इन्द्रिय के विषय का भी ग्रहण हो सकता, तब तो उन में स्वतन्त्रता की कल्पना की जा सकती थी। परन्तु जिस दशा में कि उन के विषय नियत हैं अर्थात् आंख से रूप का ही ग्रहण होता है, न कि गन्धादि अन्य विषयों का। इस से यह सिद्ध होता है कि सब विषयों का ज्ञाता चेतन आत्मा जो इन्द्रियों से अपने २ विषयों का ही ग्रहण कराता है उन से भिन्न है॥

इन्द्रियचैतन्यवादियों के मत का खण्डन करके अब देहात्मवादियों का खण्डन करते हैं:-

शरीरदाहे पातकाभावात् ॥ ४ ॥ (२०३)

उ०-शरीर को जलाने में पाप न होने से (आत्मा शरीर से पृथक् है)।

यदि शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है तो मृत शरीर को जलाने में पाप होना चाहिये, परन्तु पाप सजीव शरीर को जलाने में होता है न कि मृत शरीर को। यदि कहो कि देहात्मवादी पाप पुण्य को नहीं मानते तो देह की रक्षा और विनाश से लाभ हानि तो मानते हैं अतः उन के (उन की दृष्टि में आत्मा) के नाश होने से जो हानि होगी, वही पाप है इस लिये देह से भिन्न आत्मा अवश्य मानना चाहिये॥

अब इस पर शङ्का करते हैं:-

तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात् ॥५॥ (२०४)

पू०-उस (आत्मा) के नित्य होने से सजीव शरीर के जलाने में भी पाप न होना चाहिये॥

सजीव शरीर के जलाने में भी पाप का अभाव होना चाहिये, आत्मा के नित्य होने से क्योकि जो देह से भिन्न आत्मा को मानते हैं, वे उस को नित्य भी मानते है। यथा–"न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्य शाश्वतोऽय पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे"। अर्थात् आत्मा न कभी उत्पन्न होता और न मरता है, न कभी उत्पन्न हुआ न होगा, न मरा न मरेगा, वह अज, नित्य, सनातन और पुराण है, शरीर के नाश होने पर उस का नाश नहीं होता। तथा आगे चल कर उसी गीता में कहा है –" नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक.। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत "॥ अर्थात् आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, अग्नि नहीं जला सकता, जल गला नहीं सकते और न पवन सुखा सकता है। जब ऐसा है तो फिर आत्मा सहित शरीर के जलाने में भी कुछ पाप नहीं होना चाहिये, क्योकि नित्य आत्मा की कोई हिंसा नहीं कर सकता। यदि कहो कि हिंसा होती है, तो आत्मा का नित्यत्व न रहेगा। इस प्रकार पहिले पक्ष में हिसा निष्फल होती है और दूसरे पक्ष में उस की उपपत्ति नहीं होती॥ अब इस का समाधान करते है –

न, कार्याश्रयकर्त्तृवधात् ॥ ६ ॥ (२०५)

उ०–शरीर और इन्द्रियो के उपघात होने से (पूर्वपक्ष) ठीक नहीं॥

इस सूत्र में गौतमऋषि अपना अन्तिम सिद्धान्त कहते है। हम नित्य आत्मा के वध को हिसा नहीं कहते किन्तु कार्याश्रय शरीर और विषयोपलब्धि के कारण इन्द्रियो के उपघात (जिस से आत्मा में विकलता उत्पन्न होती है) को हिसा कहते हैं। सुख दु ख रूप कार्य हैं, उन का सवेदन शरीर के द्वारा किया जाता है, इस लिये वह कार्याश्रय कहाता है और इन्द्रियो से विषयो का ग्रहण किया जाता है, इस लिये उन में कर्त्तृत्व का व्यपदेश किया है। तो बस शरीर और इन्द्रयो के प्रबन्ध का जो उच्छेद करना है, इसी का नाम हिंसा है, इस लिये हमारे मत मे उक्त दोष नहीं आता॥

अब आत्मा के देहादि सघात से भिन्न होने मे दूसरा हेतु देते है –

सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ॥ ७ ॥ (२०६)

उ०— बाऐं आख मे देखी हुई वस्तु का दाहिनी आख मे प्रत्यभिज्ञान होने से (आत्मा देहादि से पृथक् है)॥

पूर्वापर ज्ञान के मेल को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे-यह वही मनुष्य है जिस को मैंने वाराणसी में देखा था। बाईं आंख से देखी हुई वस्तु की जो दाहिनी आंख से प्रत्यभिज्ञा होती है इस से सिद्ध होता है कि उस प्रत्यभिज्ञा का कर्त्ता इन्द्रियों से भिन्न कोई और ही पदार्थ है। यदि इन्द्रिय ही चेतन होते तो बाईं आंख से देखी हुई वस्तु को दाईं आंख कभी नहीं पहचान सकती थी, क्योंकि देवदत्त के देखे हुवे को यज्ञदत्त नहीं जान सकता॥

इस पर आक्षेप करते हैं:-

नैकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते द्वित्वाभिमानात् ॥ ८ ॥ (२०७)

पू० —नाक की हड्डी का आवरण होने से एक में दो का अभिमान होने से (यह कथन) युक्त नहीं है॥

वास्तव में चक्षु इन्द्रिय एक ही है नाक की हड्डी के बीच में आजाने से लोगों को दो की भ्रान्ति हो रही है। जैसे किसी तड़ाग में पुल बान्ध देने से दो तड़ाग नहीं हो जाते, ऐसे ही एक मस्तक में नाक का व्यवधान होने से आंख दो वस्तु नहीं हो सकतीं। अतएव प्रत्यभिज्ञा कैसी?॥

अब इस आक्षेप का समाधान करते हैं:-

एकविनाशे द्वितीयाऽविनाशान्नैकत्वम् ॥ ९ ॥ (२०८)

उ०—एक के नाश होने पर दूसरी का नाश न होने से एकता नहीं हो सकती।

यदि चक्षु इन्द्रिय एक ही होता तो एक आंख के नष्ट होने पर दूसरी भी नहीं रहती, परन्तु यह प्रत्यक्षसिद्ध है कि एक आंख के फूट जाने पर दूसरी शेष रहती है और उन से आंख का काम लिया जाता है। इस लिये चक्षु एक नहीं॥ पुनः पूर्वपक्षी इस पर आक्षेप करता है:—

अवयवनाशेऽप्यवयव्युपलब्धेरहेतु ॥ १० ॥ (२०९)

पू०— अवयव का नाश होने पर भी अवयवी की उपलब्धि होने से (उक्त हेतु) अहेतु है॥

उक्त हेतु ठीक नहीं है क्योंकि अवयव के नाश होने पर भी अवयवी की उपलब्धि देखने में आती है। जैसे-वृक्ष की किन्हीं शाखाओं के कट जाने पर भी वृक्ष की उपलब्धि होती है, ऐसे ही अवयव रूप एक चक्षु के विनाश होने पर भी दूसरे चक्षु में अवयवी की उपलब्धि शेष रहती है। इस लिये चक्षुर्द्वैत मानना ठीक नहीं॥

अब सिद्धान्तसूत्र के द्वारा समाधान करते हैं—

दृष्टान्तविरोधादप्रतिषेधः ॥ ११ ॥ (२१०)

उ०—दृष्टान्त के विरोध से निषेध नहीं हो सकता ॥

दृष्टान्त के विरोध से चक्षुर्द्वैत का निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे शाखायें वृक्ष रूप अवयवी का अवयव हैं, तद्वत् एक चक्षु दूसरे चक्षु का अवयव नहीं अर्थात् वे दोनो ही अवयव हैं। अवयवी उन का कोई और है। अतः दृष्टान्त में विरोध आने से निषेध युक्त नहीं। अथवा दृश्यमान अर्थ के विरोध को दृष्टान्तविरोध कहते है। मृत मनुष्य के कपाल में नासास्थि का व्यवधान होने पर भी दो छिद्र भिन्न २ रूप से स्पष्ट दीख पड़ते है। यों तो हृदय का व्यवधान होने से दोनो हाथो को भी कोई एक कह सकता है,परन्तु यह दृश्यमान अर्थ का साक्षाद्विरोध है इस लिये चक्षुरैक्य ठीक नहीं और जब चक्षु दो सिद्ध होगये, तब एक के देखे हुवे अर्थ की दूसरे को प्रत्यभिज्ञा होना यह सिद्ध करता है कि उस प्रत्यभिज्ञा का कर्त्ता इन्द्रियो से भिन्न कोई और ही पदार्थ है और वही चेतन आत्मा है ॥ फिर उसी की पुष्टि करते हैं:—

इन्द्रियान्तरविकारात् ॥ १२ ॥ (२११)

उ०—(किसी इन्द्रिय से उस के विषय को ग्रहण करने पर) अन्य इन्द्रिय में विकार उत्पन्न होने से (आत्मा देहादि से पृथक् है) ॥

किसी अम्लद्रव्य को चक्षु से देखने अथवा घ्राण से उस का गन्ध ग्रहण करने पर रसना मे विकार उत्पन्न होता है, अर्थात् मुंह में पानी भर आता है। यदि इन्द्रियो को ही चेतन माना जावै तो यह बात हो नहीं सकती कि अन्य के देखे को कोई और स्मरण करे। इस लिये इन्द्रियो से पृथक् कोई आत्मा है ॥ अब इस पर शङ्का करते हैं—

न, स्मृतेः स्मर्त्तव्यविषयत्वात् ॥ १३ ॥ (२१२)

पू०—स्मृति के स्मर्त्तव्यविषयिणी होने से (पृथक् आत्मा के मानने की कोई आवश्यकता) नहीं ॥

स्मरण योग्य विषयो का अनुभव करना स्मृति का धर्म है, वह स्मृति स्मर्त्तव्य विषयो के योग से उत्पन्न होती है, उसी से इन्द्रियान्तरविकार उत्पन्न होते हैं। जिस मनुष्य ने एक वार नीबू के रस को चाखा है, दूसरी

बार उस को स्मरण करने से उस के मुँह में पानी भर आता है, तो यह स्मृति का धर्म है, न कि आत्मा का। अब इस का समाधान करते हैं:—

सदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः ॥ १४ ॥ (२१३)

पदा०—सद् के आत्मगुण होने से (आत्मा का) निषेध नहीं हो सकता।

स्मृति कोई द्रव्य नहीं है किन्तु वह आत्मा का एक गुण है इस लिये उक्त आक्षेप युक्त नहीं है। जब स्मृति आत्मा का गुण है तभी तो अन्य के देखे का अन्य को स्मरण नहीं होता। यदि इन्द्रियों को चेतन मानोगे तो अनेक कर्ता होने से विषयों का प्रतिसन्धान न होसकेगा, जिस से विषयों की कोई व्यवस्था न रहेगी अर्थात् कोई देखेगा और कोई स्मरण करेगा और यह हो नहीं सकता। यह व्यवस्था तो तभी ठीक रह सकती है जब कि अनेक अर्थों का एक द्रष्टा भिन्न २ निमित्तों के योग से पूर्वानुभूत विषयों का स्मरण करता हुआ इन्द्रियान्तर विकारों को उत्पन्न करता है ऐसा माना जायगा। क्योंकि अनेक विषयों के द्रष्टा को ही दर्शन के प्रतिसन्धान से स्मृति का होना सिद्ध हो सकता है, अन्यथा बिना आधार के स्मृति किस में रहे? इस के अतिरिक्त "मैं स्मरण करता हूँ" यह प्रत्यय (जो बिना किसी भेद के प्रत्येक मनुष्य को होता है) भी स्मृति का आत्मगुण होना सिद्ध करता है।

पुनः उसी की पुष्टि करते हैं:—

अपरिसंख्यानाच्च स्मृतिविषयस्य ॥ १५ ॥ (२१४)

पदा०—स्मृतिविषय का परिगणन न करने से भी (यह शङ्का उत्पन्न हुई है)।

स्मृतिविषय के विस्तार और तत्त्व पर ध्यान न देकर प्रतिवादी ने यह मालूम किया है कि "स्मर्तव्य विषयों को स्मरण करना स्मृति का काम है" वास्तव में स्मृति का विषय बड़ा लम्बा और गहरा है। "मैंने इस अर्थ को जाना मुझ से यह अर्थ जाना गया इस विषय में मुझ से जाना गया इस विषय का मुझ को ज्ञान हुआ यह जो चार प्रकार का परोक्षज्ञान है यही स्मृतिका मूल है, इस में सर्वत्र ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों की उपलब्धि होती है। अब प्रत्यक्ष अर्थ में जो स्मृति होती है, उस से तीन प्रकार के ज्ञान एक ही अर्थ में उत्पन्न होते हैं। उदाहरण "जिस को मैंने पहिले देखा था उसी को अब देख रहा हूँ" इस में दर्शन ज्ञान और प्रत्यय ये तीनों संयुक्त हैं। जो यह एक अर्थ तीन प्रकार के ज्ञानों

से युक्त हुवा न तो अकर्त्तृक है और न नानाकर्त्तृक किन्तु एककर्त्तृक है, क्योंकि एक ही सब विषयों का ज्ञाता अपने सम्पूर्ण ज्ञानो का प्रतिसन्धान करता है। " इस अर्थ को जानूगा, इस को जानता हूं, इसे जाना और अमुक अर्थ की जिज्ञासा करते हुवे बहुत काल तक न जानकर फिर मैंने जाना इत्यादि ज्ञानो का निश्चय करता है। यदि इस को केवल संस्कारो का फैलाव मात्र ही माना जाय तो हो नहीं सकता, क्योंकि प्रथम तो संस्कार उत्पन्न होकर विलीन हो जाते हैं, इस के अतिरिक्त कोई संस्कार ऐसा नहीं है जो तीनों काल के ज्ञान और स्मृति का अनुभव कर सके। विना अनुभव के "मै और मेरा" यह ज्ञान और स्मृति का प्रतिसन्धान उत्पन्न ही नहीं हो सकता। इस से अनुमान किया जाता है कि एक सब विषयों का ज्ञाता प्रत्येक देह में अपने ज्ञान और स्मृति के प्रबन्ध को फैलाता है, देहान्तर में उस की प्राप्ति न होने से उस के ज्ञान और स्मृति का प्रतिसन्धान हो नहीं सकता॥

पुन. शङ्का करते हैं –

नात्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात्॥ १६॥ (२१५)

पू०–आत्मसाधक हेतुओ के मनमें सम्भव होने से (कोई और आत्मा) नहीं है॥

देहादि सघात के व्यतिरिक्त और कोई आत्मा नहीं है, क्योंकि आत्मा के साधक जितने हेतु दिये गये हैं वे सब मन में घट जाते हैं, अर्थात् दर्शन और स्पर्शन आदि से मन ही एक अर्थ का ग्रहण करता है, क्योंकि मन सर्व-विषयी है। इस लिये मन के अतिरिक्त और किसी आत्मा के मानने की आवश्यकता नहीं है॥ उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं.–

ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम्॥ १७॥ (२१६)

उ०–ज्ञाता के ज्ञानसाधन की उपपत्ति होने से केवल संज्ञा का भेद है॥

जैसे ज्ञाता के लिये कोई ज्ञानसाधन होते हैं, जिन से वह ज्ञान की उपलब्धि करता है। जैसे–आख से देखता है, नाक से सूघता है, त्वचा से स्पर्श करता है। ऐसे ही मन्ता के लिये मतिसाधन भी (जिन से वह मनन करता है) होने चाहियें। ऐसा होने पर ज्ञाता की आत्मसंज्ञा न मानकर मन संज्ञा मानते हो और मन को मन न कहकर मतिसाधन कहते हो तो यह केवल संज्ञाभेदमात्र है, अर्थ में कुछ भी विवाद नहीं। तात्पर्य, इस

का यह है कि मनन करने से आत्मा को संज्ञामात्र चाहे मन कहलो, परन्तु वास्तव में ज्ञातृत्व धर्म मन का नहीं हो सकता । यदि उस में ज्ञातृत्व भी माना जावे तो फिर मनन करने के लिये करणान्तर की कल्पना करनी पड़ेगी । क्योंकि बिना करण के कर्ता कोई क्रिया नहीं कर सकता ॥

पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

नियमश्च निरनुमानः ॥ १८ ॥ (२१०)

अर्थ-नियम भी अनुमान (युक्ति) शून्य है ॥

प्रतिवादी ने यह जो नियम किया है कि रूपादि के ग्रहणसाधन चक्षुरादि इन्द्रिय तो हैं , परन्तु सुख दुःख के अनुभव तथा मनन करने का कोई साधन नहीं है । यह नियम युक्तिशून्य है, क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि रूपादि विषयों से सुख दुःख पृथक् हैं, इस लिये उन के ज्ञान का साधन भी नेत्र आदि इन्द्रियों से भिन्न अवश्य कोई मानना पड़ेगा । जैसे आंख से गन्ध का ज्ञान नहीं होता , उस के लिये दूसरा इन्द्रिय घ्राण माना गया, इसी प्रकार चक्षु और घ्राण दोनों से रस का ग्रहण नहीं होता, तब उस के लिये तीसरा इन्द्रिय रसना मानना ही पड़ा, ऐसे ही शेष इन्द्रियों के विषय में समझ लीजिये । इसी प्रकार आंख आदि इन्द्रियों से सुखादि का ग्रहण नहीं होता अतः उन के ग्रहण करने के लिये भी कोई इन्द्रिय अवश्य मानना पड़ेगा और वह मन है जिस में एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं हो सकती अर्थात् जब जिस इन्द्रिय के साथ उस का संयोग होता है तब तद्विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है और संयोग न होने पर इन्द्रिय के अविकल और समर्थ होने पर भी ज्ञान नहीं होता । इस लिये पूर्व आत्मसिद्धि के लिये जो हेतु दिये गये हैं वे मन में कदापि नहीं घट सकते ॥

अब यह बात विचारणीय है कि देहादि संघात से भिन्न जो आत्मा सिद्ध हुआ है वह नित्य है अथवा अनित्य ? विद्यमान वस्तु नित्य या अनित्य भेद से दो ही प्रकार का होता है । आत्मा की सत्ता सिद्ध होने पर भी नित्य है अथवा अनित्य ? यह सन्देह अवशिष्ट रहता है । देह से पृथक् देह से पहिले भी आत्मा की स्थिति, जिन हेतुओं से उसे सिद्ध किया जाएगा सिद्ध हो गये । अब देह के नष्ट होने पर भी आत्मा विद्यमान रहता है इस बात को सिद्ध करते हैं:—

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात् जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः ॥ १९ ॥ (२१८)

उ०-पहिले अभ्यास की हुई स्मृति के लगाव से उत्पन्न हुवे को हर्ष, भय, शोक की प्राप्ति होने से (आत्मा नित्य है)॥

तत्काल जन्मा बालक (जिस ने इस जन्म में हर्ष, भय और शोक आदि के हेतुओं का अनुभव नहीं किया है) हर्ष, भय और शोक आदि से युक्त देखा जाता है और वे हर्षादि पूर्वजन्म में अभ्यास की हुई स्मृति के अनुबन्ध से ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि विना पूर्वाभ्यास के स्मृति का अनुबन्ध हो नहीं सकता और पूर्वाभ्यास विना पूर्वजन्म के नहीं हो सकता। अतएव इस से सिद्ध है कि यह आत्मा इस शरीर के नष्ट होने पर भी शेष रहता है, अन्यथा सद्योजात बालक में हर्षादि की प्रतिपत्ति असंभव है। इस से आत्मा का नित्यत्व सिद्ध होता है ॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:—

पद्मादिषु प्रबोधसंमीलनविकारवत्तद्विकारः ॥ २० ॥ (२१९)

पू०-पद्मादि में जैसे प्रबोध और संमीलन आदि विकार होते हैं, तद्वत् उस में भी हर्ष, शोक आदि विकार मानने चाहियें ॥

जैसे कमल आदि अनित्य पदार्थों में खिलना और बन्द होना आदि विकार होते हैं, ऐसे ही अनित्य आत्मा में भी हर्ष, भय और शोक आदि विकार स्वाभाविक हो सकते है। इस दशा मे पूर्वजन्म के मानने की क्या आवश्यकता है ? अतएव आत्मा अनित्य है ॥ अब उक्त शङ्का का समाधान करते हैं:—

नोष्णशीतवर्षाकालनिमित्तत्वात् पञ्चात्मकविकाराणाम् ॥ २१ ॥ (२२०)

उ०-पञ्चात्मक विकारों के उष्ण शीत और वर्षाकाल नैमित्तिक होने से (पूर्वपक्ष ठीक) नहीं ॥

पञ्चभूतों के विकार कमल आदि का खिलना और बन्द होना भी विना निमित्त के नहीं है। गर्मी, शीत और वर्षा इन मौसमों के कारण से ही पद्मादिकों में प्रबोध और सम्मीलन आदि विकार उत्पन्न होते है, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार सद्योजात बालक के हर्षादि का निमित्त पूर्वाभ्यस्त स्मृति का संस्कार है। जैसे विना गर्मी आदि निमित्त के कमल का खिलना

और बन्द होना आदि विकार नहीं होसकते, ऐसे ही बिना पिछले संस्कार रूप निमित्त के तत्काल जन्मे बालक को हर्ष भय आदि विकारों का होना असंभव है, अतः आत्मा नित्य है ॥ इसी की पुष्टि में दूसरा हेतु देते हैं:—

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥ २२ ॥ (२२१)

स०—मर कर पूर्वाभ्यासकृत दूध का अभिलाष होने से आत्मा नित्य है।

मरकर जब प्राणी जन्म लेता है, तब उसी समय बिना किसी के सिखाए वा प्रेरणा के स्वयं दूध पीने लगता है, यह बात बिना पूर्वकृत भोजनाभ्यास के हो नहीं सकती, क्योंकि इस जन्म में तो अभी उस ने भोजन का अभ्यास किया ही नहीं, फिर उस की प्रवृत्ति उस में क्योंकर हुई ? हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि क्षुधा से पीड़ित बालकादि पूर्वकृत आहाराभ्यास के संस्कार से प्रेरित होकर दुग्धपानादि भोजन करने में प्रवृत्त होते हैं । बिना पूर्वाभ्यास के जाने जातमात्र की भोजन में प्रवृत्ति हो नहीं सकती, इस से अनुमान होता है कि इस शरीर से पहिले भी शरीर था, जिस में इस ने भोजन का अभ्यास किया था । अब उस शरीर को छोड़ कर यह दूसरे शरीर में आया, तो क्षुधा से पीड़ित होकर पूर्वजन्माभ्यस्त आहार को स्मरण करता हुआ दूध की इच्छा करता है । अतएव देह के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता।

इस पर भी शङ्का करते हैं:—

अयसोऽयस्कान्ताभिगमनवत्तदुपसर्पणम् ॥ २३ ॥ (२२२)

पू०—लोहे का चुम्बक के प्रति जैसे अभिगमन होता है, वहद उस का भी उपसर्पण हो सकता है ॥

जैसे लोहा अभ्यास के बिना ही चुम्बक की ओर जाता है इसी प्रकार बालक भी आहाराभ्यास के बिना ही दूध की इच्छा करता है । इस लिये यह हेतु कि बिना पूर्वाभ्यास के भोजन में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, ठीक नहीं।

अब उक्त शङ्का का समाधान करते हैं:—

नान्यत्र प्रवृत्त्यभावात् ॥ २४ ॥ (२२३)

उ०-अन्यत्र प्रवृत्ति न होने से (उक्त हेतु) ठीक नहीं ॥

लोहे और चुम्बक का जो दृष्टान्त दिया गया है वह ठीक नहीं क्योंकि

लोहे का चुम्बक के पास जाना किसी निमित्त से है। यदि इस में कोई निमित्त न होता तो लोष्ट आदि भी चुम्बक के पास सरक जाते या लोहा चुम्बक के सिवाय लोष्टादिक के समीप भी आकर्षित होजाता। यह नियम क्यों है कि चुम्बक लोहे को ही अपने पास खींचता है और किसी को नहीं और लोहा भी चुम्बक के ही पास जाता है और किसी के नहीं ? यह नियम ही इन के उस विशेष सम्बन्ध रूप निमित्त को (जो होने वाली क्रिया का लिङ्ग या हेतु है) सूचना करता है। बस जैसे लोहे का चुम्बक के प्रति उपसर्पण अकारण नहीं है, ऐसे ही बालक की स्तन्यपान में प्रवृत्ति भी निष्कारण नहीं है। अब रही यह बात कि वह कारण क्या है ? हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि जीवों की भोजन में प्रवृत्ति पूर्वकृत आहार के अभ्यास की स्मृति से होती है तो फिर हम इस दृष्ट कारण को छोड़ कर अदृष्ट की कल्पना क्यों करें। इस लिये आत्मा का नित्य होना सिद्ध है ॥

पुनः इसी की पुष्टि में दूसरा हेतु देते हैं.—

वीतरागजन्माऽदर्शनात् ॥ २५ ॥ (२२४)

उ०-वीतराग (विरक्त पुरुष) का जन्म न दीखने से (आत्मा नित्य है)।

आत्मा के नित्यत्व में दूसरा हेतु यह भी है कि राग (सांसारिक पदार्थों के मोह) में फंसा हुवा प्राणी जन्म लेता है और पूर्वानुभूत विषयों का अनुचिन्तन करना ही राग का कारण है, सो यह अनुचिन्तन दूसरे जन्म में विना शरीर धारण किये हो नहीं सकता। यह आत्मा पूर्व शरीर में अनुभव किये विषयों का स्मरण करता हुवा उन में रक्त होता है, यही दोनों जन्मों की सन्धि है अर्थात् पूर्वजन्म का पूर्वतर जन्म से और पूर्वतर जन्म का पूर्वतम जन्म से सम्बन्ध होता है। इस प्रकार चेतन आत्मा का शरीर के साथ अनादि सम्बन्ध है जो कि राग की परम्परा को भी (जिस में अनुबद्ध हुवा प्राणी जन्म लेता है) अनादि सिद्ध करता है। अतएव आत्मा नित्य है ॥

अब इस पर शङ्का करते हैं:-

सगुणद्रव्योत्पत्तिवत्तदुत्पत्तिः ॥ २६ ॥ (२२५)

पू०-सगुण द्रव्य की उत्पत्ति के तुल्य उस की उत्पत्ति भी (हो जायगी) जैसे उत्पत्तिधर्मक घटादि द्रव्यों के रूपादि गुण द्रव्योत्पत्ति के साथही

स्वत उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसे ही उत्पत्ति धर्म वाले आत्मा में राग भी स्वयं उत्पन्न हो जायगा। अतएव जब राग की उत्पत्ति से पहिले नहीं था, तब उस पर बनने वाली पूर्वजन्म की भित्ति कहां रह सकती है और जब पूर्वजन्म नहीं तो आत्मा अवश्यमेव अनित्य है॥

अब इस का समाधान करते हैं:—

न, सङ्कल्पनिमित्तत्वाद्रागादीनाम् ॥ २७ ॥ (२२६)

उ०-रागादिकों के सङ्कल्पमूलक होने से (उन की उत्पत्ति) नहीं (हो सकती)॥

सगुणद्रव्य की उत्पत्ति के समान आत्मा की वा राग की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि रागादि सङ्कल्पमूलक हैं। विषयों का सेवन करते हुए प्राणी जब पूर्वानुभूत विषयों का चिन्तनरूप सङ्कल्प करते हैं, तब राग उत्पन्न होता है। इस से सिद्ध होता है कि उत्पन्न हुवे बालक में भी राग (इच्छा) पूर्वजन्मानुभूत विषयों के स्मरण से उत्पन्न होता है। यदि आत्मोत्पत्ति के कारण से राग की उत्पत्ति होती तो सङ्कल्प से भिन्न राग का कारण होता, परन्तु कार्यद्रव्य के समान न तो आत्मा की उत्पत्ति हो सकती है, क्योंकि यह अनाकृत है और न सङ्कल्प से भिन्न कोई और राग का कारण हो है। इस लिये सगुण द्रव्य की उत्पत्ति के समान इन की भी उत्पत्ति मानना ठीक नहीं। यदि सङ्कल्प से अन्य धर्माधर्म लक्षण राग का कारण मानो तो भी आत्मा का पूर्व शरीर से संयोग मानना ही पड़ेगा, अन्यथा बिना शरीर के धर्माधर्म की स्थिति हो ही नहीं सकती। अतएव आत्मा नित्य है॥

यह कहा जा चुका है कि चेतन आत्मा का शरीर के साथ संयोग अनादि है और अपने किये शुभाशुभ कर्मानुसार आत्मा को यह शरीर (जो सुख दुःख का अधिष्ठान है) मिलता है। अब इस शरीर की परीक्षा की जाती है कि यह घ्राणादि के समान एकप्रकृति है अथवा नानाप्रकृति?

पार्थिव गुणान्तरोपलब्धे ॥ २८ ॥ (२२७)

उ०-(मनुष्य का शरीर) पार्थिव है, गुणान्तर की उपलब्धि होने से। पृथिवी के विकार को पार्थिव कहते हैं पृथिवी के गुण गन्ध आदिकों की उपलब्धि शरीर में भी होती है। यद्यपि केवल पृथिवी से ही नहीं

किन्तु पञ्चभूतों के संयोग से शरीर बनता है, तथापि जलादि अन्य भूत इस के निमित्त कारण हो सकते हैं, उपादान नहीं। क्योंकि पृथिवी के परमाणुओं में उन का संयोग होने से शरीर बनता है। जल, तेज और वायु सम्बन्धी शरीर अन्य लोकों में होंगे, परन्तु उन में भी अन्य भूतों का संयोग अनिवार्य है। तात्पर्य यह है कि अस्मदादि के शरीर यद्यपि पञ्चभूतों के संयोग से बने हैं, तथापि पृथिवी के परमाणुओं का विशेष सम्बन्ध होने से पार्थिवप्रधान हैं॥

पुनः इसी की पुष्टि करते हैं—

श्रुतिप्रामाण्याच्च ॥ २९ ॥ (२२८)

उ०-श्रुति के प्रमाण से भी (अस्मदादि के शरीर पार्थिव हैं)॥

"सूर्यन्ते चक्षुर्गच्छतात्" इस श्रुति में "पृथिवीं ते शरीरम्" कहा गया है। मृत शरीर के प्रति यह उक्ति है अर्थात् तेरी आंख सूर्य में जावे और तेरा शरीर पृथिवी में मिल जावे, इत्यादि। अतएव "नाश॰ कारणलयः" इस सांख्य मत के अनुसार कार्य का अपने कारण में लीन हो जाना ही नाश कहाता है। इस श्रुति के प्रमाण से सिद्ध है कि शरीररूप कार्य का उपादान कारण पृथिवी है, तभी तो उस के नाश होने पर उस का पृथिवी में मिलना बन सकता है। यह श्रुति या तो किसी शाखान्तर की है, या (सूर्यं चक्षुर्गच्छतु॰) ऋग्वेदमन्त्र में पाठान्तर हो गया है॥

आत्मा और शरीर की परीक्षा हो चुकी, अब क्रमप्राप्त इन्द्रियों की परीक्षा की जाती है। प्रथम इस का विचार किया जाता है कि इन्द्रिय भौतिक हैं, अथवा अभौतिक ?

कृष्णसारे सत्युपलम्भाद् व्यतिरिच्य चोपलम्भात् संशयः॥ ॥ ३० ॥ (२२९)

पू०-आंख की पुतली होने पर तथा उस से पृथक् होने पर (रूप की) उपलब्धि होने से संशय होता है॥

आंख की पुतली भौतिक है, उस के स्वस्थ होने पर रूप की उपलब्धि होती है और नष्ट होने पर नहीं होती, इस लिये ये भौतिक गोलक ही इन्द्रिय हैं, एक पक्ष तो यह हुआ, दूसरा यह है कि आंख की पुतली का विषय से जब कुछ अन्तर (फ़ासला) होगा तभी उस का उपलम्भ (ग्रहण) हो सकेगा और यदि कोई वस्तु आंख की पुतली से मिलादी जाय तो कदापि

उस का ग्रहण न होसकेगा । यह अप्राप्त और दूर की वस्तु को ग्रहण करना भौतिक पदार्थ का धर्म नहीं हो सकता, इस लिये इन्द्रिय अभौतिक हैं। अब इस संशय का आंशिक समाधान करते हैं:—

महदणुग्रहणात् ॥ ३१ ॥ (२६०)

उ०-छोटे (और) बड़े (पदार्थों को) ग्रहण करने से इन्द्रिय अभौतिक हैं।

इन्द्रिय भौतिक नहीं हैं इस लिये कि उन से बड़े से बड़े और छोटे से छोटे पदार्थों का भी ग्रहण होता है । आंख जिस प्रकार वृक्ष और पर्वत जैसे बड़े पदार्थों को देख सकती है उसी प्रकार राई के दाने जैसे छोटे पदार्थों को भी देखती है, भौतिक पदार्थ में यह बात नहीं होसकती, क्योंकि वह अपने से अधिक परिमाण वाले द्रव्यों में व्यापक नहीं हो सकता। यह बात केवल अभौतिक पदार्थ में ही हो सकती है कि वह छोटे, बड़े सब पदार्थों में व्याप्त हो सकता है, अतएव छोटे, बड़े सब पदार्थों को ग्रहण करने से इन्द्रिय अभौतिक हैं।

अब उक्त समाधान का प्रतिवाद करते हैं —

रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात् तद्ग्रहणम् ॥ ३२ ॥ (२६१)

(आंख की) रश्मि और अर्थ के संयोग विशेष से उन का ग्रहण होता है।

छोटे और बड़े पदार्थों के ग्रहण होने का कारण आंख की ज्योति और पदार्थ का संयोग विशेष है । भौतिक दीपक भी अपनी ज्योति से छोटे और बड़े पदार्थों को प्रकाशित करता है फिर यदि भौतिक आंख भी देख ले तो आश्चर्य ही क्या है ? यदि आंख अभौतिक होती तो आगे पीछे के सब पदार्थों को देख सकती थी, भित्ति का आवरण भी उस की दर्शनशक्ति को नहीं रोक सकता था । इस से सिद्ध है कि इन्द्रिय भौतिक हैं॥

अब इस पर शङ्का करते हैं:—

तदनुपलब्धेरहेतु ॥ ३३ ॥ (२६२)

उस की उपलब्धि न होने से (यह हेतु) अहेतु है॥

पूर्व सूत्र में जो हेतु दिया था कि आंख की ज्योति और पदार्थ के संयोग विशेष से ऐसा होता है उस पर यह आक्षेप करते हैं कि आंख की ज्योति कल्पित है, यदि वास्तविक होती तो उस की उपलब्धि अवश्य होती जैसी कि दीपक की ज्योति प्रत्यक्ष दीख पड़ती है। इस से सिद्ध है कि गोलक के अतिरिक्त आंख में और कोई ज्योति नहीं॥

अब इस का समाधान करते हैं:—

नानुमीयमानस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरभावहेतुः ॥३४॥ (२३३)

उ०-अनुमान से सिद्ध होने वाले (पदार्थ) की (यदि) प्रत्यक्ष से उपलब्धि न भी हो तो भी वह उस के अभाव का हेतु नहीं है ॥

संयोग के निवारक आवरण रूप लिङ्ग से जिस का अनुमान किया जाता है, ऐसी आंख की ज्योति का प्रत्यक्ष से ग्रहण न किया जाना उस के अभाव का प्रतिपादक नहीं है। जैसे चन्द्रमा का पिछला भाग और पृथिवी का नीचे का भाग जब अनुमान से सिद्ध है तो उस का हम को प्रत्यक्ष न दीखना उस के अभाव को सिद्ध नहीं करता। निदान आंख की ज्योति का होना अनुमान से सिद्ध है इस लिये उस का प्रत्यक्ष न दीखना उस के अभाव को सिद्ध नहीं करता ॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:—

द्रव्यगुणधर्मभेदाच्चोपलब्धिनियमः ॥ ३५ ॥ (२३४)

उ०-द्रव्य और गुण के धर्मभेद से उपलब्धि का नियम है ॥

बहुत से द्रव्य ऐसे हैं कि जिन की प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती, किन्तु वे अपने गुणों से ग्रहण किये जाते हैं। जैसे जल के सूक्ष्म परमाणु जो आकाश में व्यापक रहते हैं, उन को आंख से कोई देख नहीं सकता परन्तु शीतस्पर्श उन का अनुभव कराता है जिस से कि हेमन्त और शिशिर ऋतु उत्पन्न होते हैं। ऐसे ही अग्नि के सूक्ष्म परमाणु भी जो आकाश में जाकर फैलते हैं, आंख से नहीं दीखते, पर उष्णस्पर्श से ग्रहण किये जाते हैं, जिस के कारण ग्रीष्म और वसन्त ऋतु का प्रादुर्भाव होता है। अतएव द्रव्यमात्र में ही उपलब्धि का नियम नहीं है, किन्तु कहीं २ उस के गुण से भी यह सम्बन्ध रखता है ॥ फिर उसी की पुष्टि करते हैं:—

अनेकद्रव्यसमवायाद्रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ॥३६॥ (२३५)

उ०-अनेक द्रव्यों के समवाय और रूपविशेष से रूप की उपलब्धि होती है।

जहां रूप और उस के आश्रय द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है, उस को रूप विशेष कहते हैं, जिस के होने से कहीं रूप का ज्ञान होता है और न होने से कहीं द्रव्य की उपलब्धि नहीं होती। यह रूप का धर्म उद्भूत नाम से प्रख्यात है, आंख की ज्योति में उद्भूतत्व धर्म नहीं है, इसी लिये उस का प्रत्यक्ष नहीं होता। तेज में उद्भूत रूप और स्पर्श ये दोनों देखे जाते हैं, जैसे कि

सूर्य की किरणें आंख से उनका उद्भूतरूप होना और त्वचा से उद्भूतस्पर्श होना प्रत्यक्ष है। किसी २ में रूप का उद्भव और स्पर्श का अनुद्भव देखा जाता है जैसी कि मन्द दीप की किरणें। आंख से दीप के प्रकाश को देखते हैं परन्तु त्वचा से उष्णस्पर्श का अनुभव दूर से नहीं होता। उद्भूत रूप होने से यह भी प्रत्यक्ष कहलाता है। कोई २ पदार्थ उद्भूत स्पर्श और अनुद्भूत रूप होते हैं जैसा कि उष्ण जल जिस में उष्णता का अनुभव तो होता है परन्तु उस का रूप नहीं दीखता, इस लिये यह अनुद्भूत रूप है। ऐसे ही कोई २ पदार्थ ऐसे भी होते हैं कि जिन में रूप और स्पर्श दोनों अनुद्भूत होते हैं, जैसे कि आंख की ज्योति। फिर उस की उपलब्धि क्योंकर हो सकती है?

आंख की ज्योति भी सूर्य और दीप के समान उद्भूत रूप ही क्यों न बनाई गई? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं:—

कर्मकारितश्चेन्द्रियाणां व्यूहः पुरुषार्थतन्त्रः ॥३७॥ (२२९)

अ०—इन्द्रियों की रचना कर्मकारित पुरुषार्थ के आधीन है।

जैसे चेतन आत्मा का काम सुख दुःख आदि विषयों की उपलब्धि करना है ऐसे ही इन्द्रियों का काम आत्मा को उक्त विषयों की उपलब्धि कराना है। जब जीवात्मा सुख दुःखादि के उपभोग में स्वकृत पूर्व कर्मों के आधीन है, तब इन्द्रियगण और उन की रचनाविशेष कर्मचक्र का अतिक्रमण कैसे कर सकते हैं। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों की बनावट जीवात्मा को कर्मानुसार सुख दुःख आदि विषयों की उपलब्धि कराने के लिये है, न कि स्वयं उद्भूत रूप और स्पर्श होने के लिये। इसी विषय में और भी उपपत्ति देते हैं:—

अव्यभिचाराच्च प्रतीघातो भौतिकधर्मः ॥ ३८ ॥ (२३०)

अ०—व्यभिचार न होने से प्रतीघात (रुकावट) भूतों का धर्म है।

जो किसी आवरण के होने से इन्द्रिय की द्रव्य में रुकावट होती है, यह भौतिक धर्म है, उस से भूतों में व्यभिचार नहीं होता क्योंकि अभौतिक पदार्थ के लिये कहीं कोई रुकावट नहीं हो सकती। यदि कहो कि आवरण की रुकावट होने से इन्द्रिय भौतिक हैं तो कहीं पर रुकावट न होने से उन को अभौतिक भी मानना पड़ेगा, जैसे कांच और बिल्लौर आदि का आवरण होते हुवे भी दीप रश्मि रुक नहीं जाती, बटलोई में तली को आंच होते हुवे भी अग्नि की उष्णता से वस्तु पक जाती है॥

अनुपलब्धि का और भी कारण है :-

मध्यन्दिनोल्काप्रकाशानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धिः ॥३९॥(२३८)

उ०-मध्याह्न में उल्काप्रकाश की अनुपलब्धि के समान उस की अनुपलब्धि (समझनी चाहिये) ॥

उपलब्धिकारणों के होते हुवे भी दिन में सूर्य के प्रकाश से दबे हुवे तारे नहीं दीखते तद्वत् दर्शनसाधनों के रहते हुवे भी किसी अन्य निमित्त से नेत्र की रश्मि का प्रत्यक्ष नहीं होता और वह निमित्त बतलाचुके हैं अर्थात् जो पदार्थ अनुद्भूतरूप स्पर्श धर्म वाला है, उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती॥

अत्यन्त अनुपलब्धि से तो अभाव समझा जाता है, अन्यथा कोई कह सकता है कि मट्टी के ढेले में भी प्रकाश है और वह सूर्य के प्रकाश से तिरोहित हुवा नहीं दीख पड़ता । इस का उत्तर अगले सूत्र में देते हैं:-

न, रात्रावप्यनुपलब्धेः ॥ ४० ॥ (२३९)

उ०-रात को भी न दीखने से (उक्त कथन ठीक) नहीं है ॥

यदि ढेले में प्रकाश होता तो रात को तो दीख पड़ता, बस रात को भी न दीखने से ढेले में प्रकाश का अत्यन्ताऽभाव है ॥

अब यह शङ्का उत्पन्न होती है कि अनुद्भूतरूप होने से आंख की किरण का प्रत्यक्ष नहीं होता अथवा किसी अन्य पदार्थ से अभिभूत होने से, जैसे कि तारे सूर्य के प्रकाश से अभिभूत होकर नहीं दीखते ? इस के उत्तर में कहते हैं कि :—

बाह्यप्रकाशानुग्रहाद्विषयोपलब्धेरनभिव्यक्तितोऽनुपलब्धिः ॥ ४१ ॥ (२४०)

उ०-बाह्यप्रकाश की सहायता से विषयोपलब्धि (होती) है । अतः अनुद्भूतरूप होने से उपलब्धि नहीं होती ॥

अनुद्भूतरूप होने से आंख की ज्योति नहीं दीखती, क्योंकि सूर्यादि के प्रकाश की सहायता से आख देखने में समर्थ होती है, यदि वह नक्षत्रादि के समान उद्भूतरूप होती तो बाह्यप्रकाश की अपेक्षा न रखती और यदि किसी से अभिभूत हुवा करती तो फिर सूर्यादि के प्रकाश में देखना नहीं बन सकता था, अतएव केवल अनुद्भूतरूप होने से ही आख की रश्मि का प्रत्यक्ष नहीं होता ॥ पुन. उसी की पुष्टि करते हैं :—

अभिव्यक्तौ चाभिभवात् ॥ ४२ ॥ (२४१)

उ०—उद्भूतरूप होने पर और बाह्यप्रकाश की अपेक्षा न रखने पर अभिभव (तिरस्कार) होने से (नेत्र रश्मिवान् है) ॥

जो रूप अभिव्यक्त (उद्भूत) होता है और बाह्यप्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता उस का अभिभव देखने में आता है। जैसे कि नक्षत्र और दीपादि। इस के विपरीत जो पदार्थ अनभिव्यक्तरहित है और बाह्यप्रकाश की अपेक्षा भी रखता है, जैसे कि दूरबीन, उस का अभिभव नहीं होता। इसी प्रकार अनुद्भूतरूप होने से आंख की ज्योति का प्रत्यक्ष नहीं होता ॥

अब इसी विषय में दूसरा हेतु देते हैं :—

नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च ॥ ४३ ॥ (२४२)

उ०—रात्रिचरों की नेत्र ज्योति देखने से भी (आंख में किरण हैं) ॥

रात में विचरने वाले मार्जार आदि जन्तुओं की नेत्रज्योति अन्धेरे में स्पष्ट दीख पड़ती है अन्यथा अन्धेरे में उन को दीख न पड़ता। इस से और जन्तुओं में भी अनुमान करना चाहिये ॥

इन्द्रिय और अर्थ के संयोग को उपलब्धि का कारण कहा था, अब उस पर शङ्का करते हैं :—

अप्राप्यग्रहणं काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः ॥ ॥ ४४ ॥ (२४३)

पू०—(इन्द्रियों से विषयों को) प्राप्त न होकर (भी) ग्रहण (करने की शक्ति है) काच, अभ्रक और स्फटिक का व्यवधान होने पर (भी) वस्तु की उपलब्धि होने से ॥

पानी काच और बिल्लौर का आवरण होते हुवे भी पदार्थ वैसे ही दीखते हैं जैसे कि बिना आवरण के। व्यवधान के होने पर संयोग नहीं रहता, यदि इन्द्रिय और अर्थ का संयोग ही उपलब्धि का कारण होता तो व्यवधान होने पर कदापि वस्तु का ज्ञान न होना चाहिये था परन्तु होता है। इस से सिद्ध है कि इन्द्रियों में अप्राप्यग्राहकत्व है, अतएव वे अभौतिक भी हैं क्योंकि केवल प्राप्त को ग्रहण करना भौतिक का धर्म है ॥

अब उक्त शङ्का का समाधान करते हैं:—

न, कुड्यान्तरितानुपलब्धेरप्रतिषेधः ॥ ४५ ॥ (२४४)

उ०—भित्ति के आवरण में उपलब्धि न होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं (इस लिये इन्द्रिय और अर्थ का संयोग ही उपलब्धि का कारण है ; इस का) खण्डन नहीं हो सकता ॥

यदि इन्द्रिय अप्राप्त को ग्रहण करते होते तो भित्ति (दीवार) का आवरण होने पर भी वस्तु की उपलब्धि होती और यदि इन्द्रिय प्राप्त को ही ग्रहण करते होते तो काच और बिल्लौर आदि के व्यवधान में भी उपलब्धि न होनी चाहिये थी । इस का उत्तर देते हैं:—

अप्रतिघातात्सन्निकर्षोपपत्तिः ॥ ४६ ॥ (२४५)

उ०—प्रतिघात न होने से संयोग की उपपत्ति (सिद्धि) है ॥

काच और स्फटिक आदि स्वच्छ होने से नेत्र की रश्मि को पदार्थ में जाने से नहीं रोकते, अतएव उन के आवरण होने पर भी संयोग का प्रतिघात (प्रतिबन्ध) नहीं होता । पुनः दृष्टान्त से इसी की पुष्टि करते हैं:—

आदित्यरश्मेः स्फटिकान्तरेऽपि दाह्येऽविघातात् ॥४७॥(२४६)

उ०—सूर्य की किरण के (कुम्भादि में, दीप किरण के) स्फटिकादि में और (अग्नि तेज के) दाह्य वस्तु में प्रतिघात न होने से (संयोग सिद्ध है)॥

इस सूत्र में भाष्यकार ने "अविघातात्" इस हेत्वर्थक पञ्चम्यन्त पद का सूत्रस्थ प्रत्येक पद के साथ अन्वय किया है और उस के पृथक् २ ही उदाहरण भी दिये हैं । यथा—सूर्य की किरण घड़े के भीतर जाने से नहीं रुकतीं इसी कारण घडे का जल गरम हो जाता है, संयोग होने से ही कुम्भस्थ जल में सूर्य की उष्णता का प्रभाव हो जाता है, जिस से जल का अपना गुण शैत्य दब जाता है । इसी प्रकार स्फटिकादि में दीपकिरणों का अवरोध नहीं होता, प्रत्युत काचादि का आवरण होने से दीप का प्रकाश और भी स्वच्छ हो जाता है । काचादि का आवरण होते हुवे भी प्रकाश्य और प्रकाशक का संयोग मानना पड़ता है , अन्यथा रूपोपलब्धि नहीं हो सकती । ऐसे ही बटलोई में डाली हुई वस्तु अग्नि के तेज से पक जाती है, अर्थात् तली का व्यवधान होते हुवे भी अग्नि का दाह्य वस्तु से संयोग हो जाता है । यदि संयोग न होता तो उस का दशान्तर क्यों होता । बस जैसे कुम्भादि सूर्य की किरण को, स्फटिकादि दीपकिरण को और स्थाल्यादि अग्नि के तेज को नहीं रोकते, ऐसे ही काचादि नेत्र की ज्योति को भी नहीं रोकते । अतएव संयोग अप्रतिहत है ॥ अब पुनः इस पर आक्षेप करते हैं:—

नेतरेतरधर्मप्रसङ्गात् ॥ ४८ ॥ (२९७)

पू०-एक दूसरे के धर्म के प्रसङ्ग से (अविघात) ठीक नहीं ॥

प्रतिवादी कहता है कि तुम्हारा कहा अविघात ठीक नहीं है, क्योंकि काचादि और कुड्यादि के धर्म परस्परविरुद्ध हैं । काचादि के ही समान कुड्यादि में भी अप्रतिघात क्यों नहीं होता ? अथवा कुड्यादि के ही तुल्य काचादि में भी प्रतिघात क्यों नहीं होता ? इस का क्या कारण है ?

अब उक्त आक्षेप का दृष्टान्त से समाधान करते हैं:-

आदर्शोदकयो प्रसादस्वाभाव्याद्रूपोपलब्धिवत्तदुपलब्धि ॥ ४९ ॥ (२९८)

उ०-(जैसे) दर्पण और जल का स्वच्छ स्वभाव होने से रूप की उपलब्धि (होती है, वैसे ही) उस की उपलब्धि (होती है) ॥

जैसे स्वच्छस्वभाव होने से दर्पण और जल में मुखादिरूप की उपलब्धि होती है ऐसे ही स्फटिकादि के भी स्वच्छस्वभाव होने से नेत्र की रश्मि उस के भीतर प्रवेश कर जाती है और फिर लौट आकर प्रतिबिम्ब का ग्रहण कराती है, इसलिये संयोग का प्रतिघात नहीं होता, परन्तु भित्ति आदि में मलिनस्वभाव होने से प्रतिबिम्ब को धारण करने की शक्ति नहीं है अतएव काचादि और कुड्यादि के स्वभाव में महान् अन्तर होने से पदार्थों का प्रभाव इन पर एकसा नहीं पड़ सकता ॥

प्र०-दर्पणादि के समान आंख की ज्योति को मानने में क्या प्रमाण है ?

दृष्टानुमिताना नियोगप्रतिषेधानुपपत्ति ॥ ५० ॥ (२९९)

उ०-देखे और अनुमान किये अथवा लिङ्ग देख कर अनुमान किये पदार्थों का नियोग और प्रतिषेध नहीं होसकता ॥

प्रमाणों से जो प्रमेयों की परीक्षा करना चाहता है, वह उन के विषय में जबतक कि उन की सिद्धि न हो जाये, नियोग (यह ऐसा ही है) और प्रतिषेध (यह ऐसा नहीं है) नहीं कहसकता क्योंकि यह हो नहीं सकता कि रूप के समान गन्ध भी नेत्र का विषय होजावे अथवा गन्ध के तुल्य रूप भी नेत्र का विषय न हो तथा धुयें से जैसे अग्नि का अनुमान किया जाता है वैसे ही जल का भी किया जाने लगे यद्वा वैसे जल का अनुमान नहीं

होता वैसे ही अग्नि का भी न हो। बात यह है कि जो पदार्थ जैसे होते हैं वैसा ही उन का स्वभाव भी होता है। प्रतिवादी ने जो यह कहा था कि काचादि के समान कुड्यादि में भी रुकावट न होनी चाहिये तथा कुड्यादि के तुल्य काचादि मे भी रुकावट होनी चाहिये, यह नियोग और प्रतिषेध ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्येक पदा॑ की बनावट और दशा भिन्न २ है जो कि प्रत्यक्ष और अनुमान से सिद्ध होती है। भित्ति की आड़ में रक्खी हुई वस्तु आख से नहीं दीखती, इस से भित्ति में दृष्टि का प्रतिघात होना सिद्ध है, काचादि पदार्थों में दृष्टि का अवरोध नहीं होता, इस से पदार्थों की उपलब्धि होती है। इस लिये सब पदार्थों में एकसा नियोग और प्रतिषेध नहीं हो सकता॥

इन्द्रियपरीक्षा समाप्त हुई अब इस बात का विवेचन किया जाता है कि इन्द्रिय एक है अथवा अनेक?

स्थानान्यत्वे नानात्वादवयविनानात्वादवयविनाना-स्थानत्वाच्च संशयः॥ ५१॥ (२५०)

पू०-अनेक स्थानों में अनेक पदार्थों के होने से और एक पदार्थ के अनेक स्थानों में होने से संदेह (होता है)॥

बहुत से द्रव्य ऐसे हैं कि जो पृथक् २ रूप से अनेक स्थानों में देखे जाते है जैसे शरीर के हस्तपादादि अवयव और कहीं पर एक ही द्रव्य अनेक स्थानों में देखा जाता है जैसा कि जीवात्मा। अब यहां पर यह सन्देह होता है कि हस्तपादादि अङ्गों के समान इन्द्रिय अनेक हैं अथवा अङ्गी जीवात्मा के समान एक?

प्रथम पूर्वपक्ष करते हैं कि-

त्वगव्यतिरेकात्॥ ५२॥ (२५१)

पू०-व्यतिरेक (पार्थक्य) न होने से त्वचा (ही एक इन्द्रिय है)॥

सब शरीर में व्याप्त होने से त्वचा ही एक इन्द्रिय है क्योंकि शरीर में कोई भी ऐसा इन्द्रिय नहीं है जिस में त्वचा व्यापक न हो। यदि त्वक् न हो तो फिर अन्य इन्द्रियों के होते हुवे भी किसी विषय का ग्रहण नहीं हो सकता। इस लिये सब इन्द्रियो में व्यापक और विषय ग्रहण में निमित्त त्वचा ही को एक प्रधान इन्द्रिय मानना चाहिये॥

अब इस पूर्वपक्ष का निराकरण करते हैं:—

नेन्द्रियान्तरार्थानुपलब्धेः ॥ ५३ ॥ (२५२)

उ०-अन्य इन्द्रियों के अर्थों की (त्वचा से) अनुपलब्धि होने से (उक्त पक्ष) ठीक नहीं है ॥

स्पर्शग्राहक त्वगिन्द्रिय के होते हुवे अन्य इन्द्रियों के अर्थ रूपादि अन्य इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किये जाते। यदि प्रतिवादी के कथनानुसार त्वगिन्द्रिय से भिन्न और कोई इन्द्रिय न होता तो अन्धे मनुष्य को स्पर्श के समान रूप का भी ग्रहण होना चाहिये था, जो कि ऐसा नहीं होता, इस लिये त्वचा एक इन्द्रिय नहीं है ॥

अब पुनः पूर्वपक्षी अपने कथन की पुष्टि करता है:—

त्वगवयवविशेषेण धूमोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ॥५४॥ (२५३

पू०-त्वचा के अवयवविशेष से धूम की उपलब्धि के समान (रूप) की उपलब्धि (भी हो जायगी) ॥

जैसे त्वचा का एक भाग आंख में संयुक्त हुवा धूवें के स्पर्श को प्र करता है, वैसे ही उसका दूसरा भाग आंखसे मिला हुवा रूपादि को प्र करता है, जब रूपग्राहक भाग के उपहत होने से अन्धादिकों को रूप उपलब्धि नहीं होती। तात्पर्य यह कि आंख में जो त्वचा का भाग है उ विकृत होने से ही दर्शनशक्ति जाती रहती है, अतएव त्वचा ही एक इन्द्रि

अब इस का खण्डन करते हैं:—

आहतत्वादहेतुः ॥ ५५ ॥ (२५४)

उ०-व्याघात दोष होने से (उक्त हेतु) अहेतु है ॥

प्रतिवादी ने पहिले कहा था कि अव्यतिरेक (अपार्थक्य) से अर्थात् सब शरीर में व्याप्त होने से त्वचा ही एक इन्द्रिय है और अब के विरुद्ध यह कहना कि त्वचा के किसी भागविशेष से धूम की उप के समान रूपादि की भी उपलब्धि हो जायगी। ये दोनों कथन पू विरुद्ध हैं क्योंकि जब त्वचा अव्यतिरेक भाव से सारे शरीर में व्यापक फिर उस के भाग कैसे? और यदि उस के भाग हैं तो उस का अव्य से व्यापक होना कैसा? यों तो पृथिव्यादि भूत भी इन्द्रियों में व्याप

क्योंकि उन के अभाव में विषयों का ज्ञान नहीं हो सकता। बस जैसे विषयों के ग्रहण करने में पृथिव्यादि भूत इन्द्रियों के सहायक हैं, अधिक से अधिक ऐसा ही त्वचा को भी मानलो, परन्तु भिन्न २ विषयों के ग्राहक भिन्न २ इन्द्रिय हैं, न कि एक॥ पुन. इसी की पुष्टि करते हैं:—

न, युगपदर्थानुपलब्धेः ॥ ५६ ॥ (२५५)

उ०—एक साथ अनेक अर्थों की उपलब्धि न होने से (एक इन्द्रिय) नहीं है॥

यदि सर्वविषयक कोई एक ही इन्द्रिय होता तो एक काल में अनेक विषयों की उपलब्धि होनी चाहिये थी परन्तु ऐसा नहीं होता इस लिये नाना समयों में नाना अर्थों के ग्राहक इन्द्रिय अनेक हैं। सूत्र न० ५३। ५४। ५५ अधिक रक्खे गये हैं, इसी लिये वृत्तिकार ने इन पर वृत्ति भी नहीं की। यदि इन को उपेक्षित करदिया जाय तब भी शास्त्र की सङ्गति में कोई वाधा नहीं पडती प्रत्युत और भी उत्तमता से सङ्गति मिल जाती है, परन्तु वात्स्यायन ने अपने भाष्य में इन को सूत्र मानकर व्याख्यान किया है, इसलिये हमने भी इन को यथास्थान सुरक्षित रक्खा है॥

फिर भी उसी अर्थ की पुष्टि करते हैं:—

विप्रतिषेधाच्च न त्वगेका ॥ ५७ ॥ (२५६)

उ०—विप्रतिषेध होने से भी त्वचा (ही) एक (इन्द्रिय) नहीं है॥

यदि चक्षुःस्थ त्वचा से अप्राप्त (दूरस्थ=अस्पृष्ट) रूपों का ग्रहण होता है, तो स्पर्शादिकों में भी ऐसा ही मानना पड़ेगा अर्थात् त्वचा के साथ विषय का संयोग न होने पर भी स्पर्श का ज्ञान होगा। जो कहो कि स्पर्शादि प्राप्त हुवे त्वचा से ग्रहण किये जाते हैं और रूपादि विना प्राप्त हुवे भी। ऐसा मानने पर कोई आवरण न रहेगा और आवरण के न रहने पर विषय मात्र का ग्रहण होगा, चाहे उस में रुकावट हो वा न हो। तथा दूर और समीप की भी कुछ व्यवस्था न रहेगी, कोई वस्तु चाहे कितनी ही दूर हो और कितनी ही उस मे रुकावट क्यों न हो, त्वचा से उस की उपलब्धि माननी पड़ेगी, परन्तु यह अनुपपन्न है, इसलिये केवल त्वचा ही इन्द्रिय नहीं है॥

फिर भी इसी की पुष्टि की जाती है.—

इन्द्रियार्थपञ्चत्वात् ॥ ५८ ॥ (२५७)

उ०—इन्द्रियों के पांच अर्थ होने से (भी त्वचा ही एक इन्द्रिय नहीं है)

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, इन्द्रियों के ये पांच विषय प्रसिद्ध हैं, त्वचा से केवल स्पर्श का ज्ञान होता है न कि रूपादि अन्य विषयों का, एवं रूपादि अन्य विषयों को ग्रहण करने के लिये चक्षुरादि इन्द्रियों को मानना पड़ता है, यदि न माना जाय तो अन्धे को रूप बधिर को शब्द घ्राण शक्तिहीन को गन्ध और रसनावर्जित पुरुष को रस का ज्ञान होना चाहिये क्योंकि त्वगिन्द्रिय इन सब के पास है। परन्तु अन्धे आदि को त्वचा के होते हुवे भी रूपादि का ज्ञान नहीं होता, इसी से अनुमान होता है कि पांचों भिन्न २ अर्थों को ग्रहण करने वाले पांच ही इन्द्रिय हैं॥

अब इस पर पुनः शङ्का करते हैं:-

न, तदर्थबहुत्वात् ॥ ५९ ॥ (२५८)

पू०-उन के (इन्द्रियों के) बहुत अर्थ होने से (पांच ही इन्द्रिय नहीं हैं)।

इन्द्रियों के अनेक अर्थ होने से पांच इन्द्रियों का मानना ठीक नहीं। यथा-शीतोष्णादि भेदों से स्पर्श कई प्रकार का है, ऐसे ही शुक्ल, कृष्ण और हरितादि भेदों से रूप भी कई प्रकार का है। इसीप्रकार मिष्ट कटुकादि भेदों से रस, सुगन्ध और दुर्गन्ध आदि भेदों से गन्ध, वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक भेदों से शब्द कई प्रकार के हैं, अतएव इन्द्रियों के पांच अर्थ होने से पांच ही इन्द्रिय हैं, यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि अर्थ बहुत हैं॥

अब इस का उत्तर देते हैं:-

गन्धत्वाद्यव्यतिरेकाद्गन्धादीनामप्रतिषेधः ॥६०॥ (२५९)

उ०-गन्धत्वादि (सामान्य धर्म) से गन्धादिकों के पृथक् न होने से का एक निषेध नहीं हो सकता॥

जैसे स्पर्श तीन प्रकार का है-शीत उष्ण और साधारण, परन्तु इन तीनों में स्पर्शत्व रूप सामान्य धर्म एक ही है, क्योंकि जो त्वचा शीतस्पर्श को ग्रहण करती है वही उष्ण और साधारण स्पर्श को भी ग्रहण करती है इस लिये शीतोष्णादि अपने विशेष भेद रखता हुआ भी स्पर्श एक ही है, तो फिर उस के ग्रहण करने वाले इन्द्रिय अनेक कैसे हो सकते हैं? इसी प्रकार गन्धत्व से गन्ध मात्र का रूपत्व से रूप मात्र का, रसत्व से रस मात्र का और शब्दत्व से शब्द मात्र का ग्रहण होने से पांच इन्द्रियों के अतिरिक्त दूसरे साधनों की अपेक्षा नहीं रहती इस लिये पांच अर्थ और उन के पांच ही इन्द्रियों का होना सिद्ध है॥

फिर शङ्का करते हैं:-

विषयत्वाऽव्यतिरेकादेकत्वम् ॥ ६१ ॥ (२६०)

पू०-(तौ फिर) विषयत्व के व्यतिरेक न होने से (इन्द्रिय का) एकत्व होना चाहिये ॥

यदि गन्धत्व के एक होने से सुगन्ध और दुर्गन्ध दो नहीं हैं तौ विषयत्व के एक होने से गन्ध रसादि भी एक ही होने चाहियें। क्योंकि विषय शब्द से पाचो का ग्रहण होता है, जब विषयत्व में इन सब की एकता है तौ फिर इन्द्रियत्व में भी एकता होनी चाहिये॥ अब इस का उत्तर देते हैं —

न, बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृतिजातिपञ्चत्वेभ्यः ॥६२॥ (२६१)

उ०—बुद्धिलक्षण, अधिष्ठान, गति, आकृति और जाति के पञ्चधा होने से इन्द्रियेकत्व नहीं हो सकता ॥

(१) बुद्धि ज्ञान को कहते हैं सो चाक्षुषादि भेदों से पाच प्रकार का है,जब ज्ञान पांच प्रकार का है, तब उस के करण भी पाच ही होने चाहियें नकि एक। (२) इन्द्रियों के अधिष्ठान भी पाच ही हैं, स्पर्श का सब शरीर, रूप का आख की पुतली, घ्राण का नासाछिद्र, रसना का जिह्वा और श्रोत्र का कर्णविवर। जब प्रत्यक्ष इन्द्रियो के पाच भिन्न२ स्थान है तब उन का स्थानी एक कैसे हो सकता है? (३) गतिभेद से भी इन्द्रिय पांच ही सिद्ध होते हैं, पुतली में से आंख को रश्मि निकल कर और रूप में परिणत होकर उस का ज्ञान कराती है, त्वगादि इन्द्रियो से जब विषय मिलते हैं, तब उन का ज्ञान होता है, शब्द जब क्रमपूर्वक उच्चारण किये जाते हैं तब उन का ज्ञान होता है, इत्यादि। (४) आकृति (बनावट) भी पाचों इन्द्रियो की भिन्न २ प्रकार की होने से इन्द्रिय एक नहीं, क्योंकि एक वस्तु के अनेक आकार नहीं होते। (५) जाति (कारण) भी इन्द्रियों के पांच ही है। त्वचा का वायु, चक्षु का तेज, घ्राण का पृथिवी, रसना का जल और श्रोत्र का आकाश। जब कारण पाच हैं तब उन का कार्य एक कैसे हो सकता है? अतएव पाच ही इन्द्रिय हैं ॥

प्र०—यह कैसे जाना गया कि इन्द्रियों के कारण पञ्चभूत हैं? अव्यक्त नहीं, इस विषय में कहते हैं—

भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम् ॥६३॥ (२६२)

उ०-(पञ्च) भूतों के गुणविशेष की उपलब्धि होने से (इन्द्रिय) भूतकार्य हैं।

पञ्चभूतों से गन्धादि गुणविशेषों की उपलब्धि प्रत्यक्ष देखने में आती है। यथा-वायु स्पर्श, आकाश शब्द, अग्नि रूप, जल रस और पृथिवी गन्ध के अभिव्यञ्जक हैं और यही भूतों के पांच गुण इन्द्रियों के पांच विषय हैं, इस से सिद्ध है कि पृथिव्यादि पञ्चभूत ही पांचों इन्द्रियों के कारण हैं, न कि इन का कोई अव्यक्त कारण है ॥

अब इन पञ्चभूतों के गुण दिखलाये जाते हैं:-

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां स्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्याः, अप्तेजोवायूनां पूर्वंपूर्वमपोह्याकाशस्योत्तर ॥६४॥ (२६३)

उ०-गन्ध, रस रूप, स्पर्श और शब्दों में स्पर्शपर्यन्त पृथिवी के (गुण हैं) जल तेज और वायु के पहिला २ छोड़ कर और आकाश का पिछला गुण है।

गन्ध, रस, रूप और स्पर्श ये ४ गुण पृथिवी के हैं, रस, रूप और स्पर्श ये ३ गुण जल के, रूप और स्पर्श ये २ गुण अग्नि के, स्पर्श वायु का और शब्द आकाश का गुण है ॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:-

न, सर्वगुणानुपलब्धे ॥ ६५ ॥ (२६४)

पू०-सब गुणों की उपलब्धि न होने से (यह नियम) ठीक नहीं।

यह गुणों की व्यवस्था ठीक नहीं है क्योंकि जिन भूत के जितने गुण कहेगये हैं उन सब की उपलब्धि उस में नहीं होती। यथा-पार्थिव इन्द्रिय घ्राण से केवल गन्ध का ही ग्रहण होता है न कि रस रूप और स्पर्श का। एवं आप्य इन्द्रिय रसना से केवल रस का ग्रहण होता है न कि रूप और स्पर्श का। तथा तैजस इन्द्रिय चक्षु से केवल रूप का ग्रहण होता है न कि स्पर्श का। जिस भूत में जिस गुण की उपलब्धि ही नहीं होती वह उस का गुण कैसे हो सकता है? पुनः इसी शङ्का की पुष्टि करते हैं:-

एकैकस्यैवोत्तरगुणसद्भावादुत्तरोत्तराणां तदनुपलब्धि ॥ ६६ ॥ (२६५)

पू०-पिछले २ भूतों में एक २ भूत का एक २ ही पिछला २ गुण होने से उन की अनुपलब्धि है ॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश; इन पञ्चभूतों में और गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द; इन पांच गुणों में एक २ भूत का क्रमशः एक २ ही गुण है जैसे पृथिवी का गन्ध, जल का रस, तेज का रूप, वायु का स्पर्श और आकाश का शब्द । इस लिये अपने २ गुण की ही इन में उपलब्धि होती है न कि अन्य के गुण की ॥ अब इस का पाक्षिक समाधान करते हैः-

संसर्गाच्चानेकगुणग्रहणम् ॥ ६७ ॥ (२६६)

उ०-संसर्ग से अनेक गुणों का ग्रहण होता है ॥

पांचों भूत आपस में मिले हुवे हैं अतएव एक दूसरे के संसर्ग से उन में अन्य भूतों के गुण भी उपलक्षित होते है। यथा-जलादि के संसर्ग से पृथिवी में रसादि भी पाये जाते हैं ऐसे ही औरों में भी एक दूसरे के गुण मिश्रित हैं ॥ यदि ऐसा है तो फिर संयोग में इस का कुछ नियम न होने से चार गुण पृथिवी में, तीन गुण जल में, दो गुण तेज में और एक गुण वायु में कैसे सिद्ध होंगे ? इस का उत्तर अगले सूत्र में देते हैंः-

विष्टं ह्यपरं परेण ॥ ६८ ॥ (२६७)

उ०-पहिला पिछले से मिला हुवा है ॥

पृथिव्यादि पाचों भूतों में पहिला २ पिछले २ से मिला हुवा है अर्थात् पहिली पृथिवी में पिछले जल, तेज और वायु के गुणो का संयोग होने से वह चार गुण वाली कहाती है, इसी प्रकार पहिले जल में पिछले तेज और वायु के गुणों का समावेश होने से वह तीन गुण वाला है । शेष भूतों में भी पहिले २ महाभूत पिछले २ के गुणों से संयुक्त हैं, इस लिये संयोग में अनियम नहीं है ॥ अब सिद्धान्तसूत्र द्वारा पूर्व तीन सूत्रों का भी निराकरण करते हैं.-

न,पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् ॥ ६९ ॥ (२६८)

उ०-उक्त गुण नियम ठीक नहीं है, पार्थिव और भी आप्य द्रव्यों के प्रत्यक्ष होने से ॥

एक भूत का एक ही गुण है यह नियम ठीक नहीं । यदि एक भूत का एक ही अपना गुण होता तो पार्थिव और जलसम्बन्धी द्रव्यो की प्रत्यक्ष उपलब्धि न होती क्योंकि रूप गुण अग्नि का है, इस लिये केवल आग्नेय पदार्थों का ही प्रत्यक्ष होना चाहिये । परन्तु प्रत्येक चक्षुष्मान् आग्नेय द्रव्यों

से ही समान पार्थिव और आप्य द्रव्यों में भी रूप को ग्रहण करता है, इस लिये यह मन्तव्य कि संसर्ग से अनेक गुणों का ग्रहण होता है, ठीक नहीं। जो कहो कि अग्नि के रूप गुण से ही इन का प्रत्यक्ष होता है तो वायु का भी होना चाहिये, यदि इस में कोई नियम है तो उस का कारण बतलाना चाहिये। यद्वा पार्थिव और आप्य रस के भी प्रत्यक्षतया भिन्न २ होने से यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि पार्थिव रस ६ प्रकार का है और जल में केवल एक ही मधुर रस है। यह बात भी संसर्ग से नहीं हो सकती। अथवा इन दोनों के रूप में भी प्रत्यक्ष भेद अवगत होने से पूर्वोक्त पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि पृथिवी में हरा पीला लाल आदि अनेक प्रकार का रूप है परन्तु जल में केवल सामान्य श्वेत रूप ही है, यह भी संसर्गकृत नहीं है। सूत्र में पार्थिव और आप्य उपलक्षण मात्र हैं, इसी प्रकार पार्थिव और तैजस द्रव्यों के स्पर्श में भी महान् अन्तर देखा जाता है। इस लिये यह कथन कि भूतों के परस्पर संसर्ग से एक दूसरे के गुण उन में पाये जाते हैं, ठीक नहीं॥

अब जब कि गन्ध के अतिरिक्त रसादि भी पृथिव्यादि के गुण हैं तो घ्राणादि से उन का ग्रहण क्यों नहीं होता। इस पर कहते हैं:-

पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात्तत्तत्प्रधानम् ॥ ७० ॥ (२६९)

अ०-पहिले पहिले गुण के उत्कर्ष से वह वह प्रधान है॥

गन्ध रस रूप और स्पर्श ये चार गुण पृथिवी के हैं, इन में पहला गन्ध उत्कृष्ट होने से प्रधान है पिछले तीन अनुत्कृष्ट होने से अप्रधान। ऐसे ही रस रूप और स्पर्श ये तीन गुण जल के हैं जिन में पहिला रस प्रधान और पिछले दो अप्रधान। एवं रूप और स्पर्श ये दो गुण तेज के हैं जिन में पहिला मुख्य और दूसरा गौण है। अब इन में जो जिस का प्रधान गुण है वही उस के इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है अप्रधान नहीं। यही कारण है कि एक इन्द्रिय से अनेक गुणों का ग्रहण नहीं होता॥

पुन उक्तार्थ की ही पुष्टि करते हैं:-

तद्व्यवस्थानन्तु भूयस्त्वात् ॥ ७१ ॥ (२७०)

अ०-उन गुणों की व्यवस्था प्रकर्ष से है॥

पृथिवी के चार गुण होते हुए भी जो उसमें गन्ध की व्यवस्था की गई वह पृथिवी में गन्ध गुण की प्रधानता होने से है अर्थात् जलादि से असंयुक्त पृथिवी में भी गन्ध की उपलब्धि होती है॥

अपने २ गुणों को इन्द्रिय विना उन की सहायता के क्यों नहीं ग्रहण करते ? इस पर कहते हैं —

सगुणानामिन्द्रियभावात् ॥ ७२ ॥ (२७१)

उ०-गुणो के सहित इन्द्रियों का इन्द्रियत्व होने से ॥

अपने गुण गन्धादि को घ्राणादि क्यों नहीं ग्रहण करते ? इस का कारण यह है कि अपने गुणों को लेकर ही घ्राणादिको में इन्द्रियत्व है, क्योंकि घ्राण अपने गुण गन्ध की सहायता से ही बाहर के गन्ध को ग्रहण करता है, यदि उसे अपने सहकारी गन्ध को सहायता न हो तो वह कदापि उसका ग्रहण नहीं कर सकता, ऐसा ही और इन्द्रियो में भी समझना चाहिये ॥

यदि कहो कि जब गन्ध घ्राण का सहायक है, तो वह फिर उस का ग्राह्य कैसे होता है ? इस शङ्का का समाधान करते हैं:—

तेनैव तस्याऽग्रहणाच्च ॥ ७३ ॥ (२७२)

उ०-उस ही से उस का ग्रहण नहीं होता ॥

इन्द्रिय विना अपने गुणो या उन के कारण भूतों की सहायता के अपने गुणों का ग्रहण नहीं कर सकते क्योंकि केवल उस ही से उसका ग्रहण नहीं होता । जैसे कोई कहे कि आंख जैसे बाहर के पदार्थों को दिखलाती है वैसे ही अपने को क्यों नहीं दिखलाती । इस का भी उत्तर यही है कि बाह्य रूप की सहायता न होने से । तद्वत् कार्य कारण रूप अपने २ गुणों की सहायता न होने से इन्द्रिय भी अर्थों की उपलब्धि में असमर्थ हैं ॥

अब इस पर शङ्का करते हैं –

न, शब्दगुणोपलब्धेः ॥ ७४ ॥ (२७३)

शब्द गुण की उपलब्धि होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं है ॥

इन्द्रिय अपने गुणो को ग्रहण नहीं करते यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि श्रोत्र से विना अपने में स्थित शब्द गुण के भी अपने बाह्य गुण शब्द की साक्षात् उपलब्धि होती है । अब इसका समाधान करते हैं:-

तदुपलब्धिरितरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात् ॥ ७५ ॥ (२७४)

परस्पर द्रव्यगुणो के वैधर्म्य से उस (शब्द) की उपलब्धि होती है ॥

शब्द गुणसे आकाश सगुण इन्द्रिय नहीं है और न शब्द, शब्द का व्यञ्जक है । घ्राणादि शेष इन्द्रियों का अपने गुणों को ग्रहण करना न तो प्रत्यक्ष है

के ही समान पार्थिव और आप्य द्रव्यों में भी रूप को ग्रहण करता है, इस लिये यह मन्तव्य कि संसर्ग से अनेक गुणों का ग्रहण होता है, ठीक नहीं। जो कहो कि अग्नि के रूप गुण से ही जल का प्रत्यक्ष होता है तो वायु का भी होना चाहिये, यदि इस में कोई नियम है तो उस का कारण बतलाना चाहिये। यद्वा पार्थिव और आप्य रस को भी प्रत्यक्षतया भिन्न २ होने से यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि पार्थिव रस ६ प्रकार का है और जल में केवल एक ही मधुररस है। यह बात भी संसर्ग से नहीं हो सकती। अथवा इन दोनों के रूप में भी प्रत्यक्ष भेद अवगत होने से पूर्वोक्त पक्ष ठीक नहीं क्योंकि पृथिवी में हरा पीला लाल आदि अनेक प्रकार का रूप है परन्तु जल में केवल सामान्य श्वेत रूप ही है, यह भी संसर्गजन्य नहीं है। यूं ही पार्थिव और आप्य उपलक्षण मात्र हैं, इसी प्रकार पार्थिव और तैजस द्रव्यों के स्पर्श में भी महान् अन्तर देखा जाता है। इस लिये यह कथन कि भूतों के परस्पर संसर्ग से एक दूसरे के गुण उन में पाये जाते हैं, ठीक नहीं॥

अब जब कि गन्ध से अतिरिक्त रसादि भी पृथिव्यादि के गुण हैं तो घ्राणादि से उन का ग्रहण क्यों नहीं होता। इस पर कहते हैं:-

पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात्तत्प्रधानम् ॥ ७० ॥ (२६९)

उ०-पहिले पहिले गुण के उत्कर्ष से वह वह प्रधान है॥

गन्ध रस रूप और स्पर्श ये चार गुण पृथिवी के हैं, इन में पहला गन्ध उत्कृष्ट होने से प्रधान है, पिछले तीन अनुत्कृष्ट होने से अप्रधान। ऐसे ही रस रूप और स्पर्श ये तीन गुण जल के हैं जिन में पहिला रस प्रधान और पिछले दो अप्रधान। एवं रूप और स्पर्श ये दो गुण तेज के हैं जिन में पहिला मुख्य और दूसरा गौण है। अब इन में जो जिस का प्रधान गुण है वही उस इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है अप्रधान नहीं। यही कारण है कि एक इन्द्रिय से अनेक गुणों का ग्रहण नहीं होता॥

पुनः उक्तार्थ को ही पुष्ट करते हैं:-

तद्व्यवस्थानन्तु भूयस्त्वात् ॥ ७१ ॥ (२७०)

भा०-उन गुणों की व्यवस्था प्रकर्ष से है॥

पृथिवी के चार गुण होते हुये भी जो उनमें गन्ध की व्यवस्था की गई है वह पृथिवी में गन्ध गुण की प्रचुरता होने से है अर्थात् जलादि से संयुक्त पृथिवी में भी गन्ध की उपलब्धि होती है॥

अपने २ गुणों को इन्द्रिय विना उन की सहायता के क्यों नहीं ग्रहण करते ? इस पर कहते हैं —

सगुणानामिन्द्रियभावात् ॥ ७२ ॥ (२७१)

उ०-गुणो के सहित न्द्रियो का इन्द्रियत्व होने से ॥

अपने गुण गन्धादि को घ्राणादि क्यों नहीं ग्रहण करते ? इस का कारण यह है कि अपने गुणो को लेकर ही घ्राणादिकों मे इन्द्रियत्व है, क्योंकि घ्राण अपने गुण गन्ध की सहायता से ही बाहर के गन्ध को ग्रहण करता है, यदि से अपने सहकारी गन्ध की सहायता न हो तो वह कदापि उसका ग्रहण हीं कर सकता, ऐसा ही और इन्द्रियो में भी समझना चाहिये ॥

यदि कहो कि जब गन्ध घ्राण का सहायक है, तो वह फिर उस का ग्रहण कैसे होता है ? इस शङ्का का समाधान करते हैः—

तेनैव तस्याऽग्रहणाच्च ॥ ७३ ॥ (२७२)

उ०-उस ही से उस का ग्रहण नहीं होता ॥

इन्द्रिय विना अपने गुणो या उन के कारण भूतों की सहायता के अपने गुणो का ग्रहण नहीं कर सकते क्योंकि केवल उस ही से उसका ग्रहण नहीं होता। जैसे कोई कहे कि आंख जैसे बाहर के पदार्थों को दिखलाती है वैसे ही अपने को क्यों नहीं दिखलाती। इस का भी उत्तर यही है कि बाह्य रूप की सहायता न होने से। तद्वत् कार्य कारण रूप अपने २ गुणों की सहायता न होने से इन्द्रिय भी अर्थों की उपलब्धि में असमर्थ है ॥

अब इस पर शङ्का करते हैं –

न, शब्दगुणोपलब्धेः ॥ ७४ ॥ (२७३)

शब्द गुण की उपलब्धि होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं है ॥

इन्द्रिय अपने गुणो को ग्रहण नहीं करते यह कथन ठीक नहीं है क्यों कि श्रोत्र से विना अपने में स्थित शब्द गुण के भी अपने बाह्य गुण शब्द की साक्षात् उपलब्धि होती है। अब इसका समाधान करते हैं:–

तदुपलब्धिरितरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात् ॥ ७५ ॥ (२७४)

परस्पर द्रव्यगुणो के वैधर्म्य से उस (शब्द) की उपलब्धि होती है ॥

शब्द गुणसे आकाश सगुण इन्द्रिय नहीं है और न शब्द, शब्द का व्यञ्जक है। घ्राणादि शेष इन्द्रियों का अपने गुणो को ग्रहण करना न तो प्रत्यक्ष है

से ही समान पार्थिव और आप्य द्रव्यों में भी रूप को ग्रहण करता है, इस लिये यह मन्तव्य कि संसर्ग से अनेक गुणों का ग्रहण होता है ठीक नहीं। जो कहो कि अग्नि के रूप गुण से ही इन का प्रत्यक्ष होता है तो वायु का भी होना चाहिये, यदि इस में कोई नियम है तो उस का कारण बतलाना चा हिये। यद्यपि पार्थिव और आप्य रस को भी प्रत्यक्षतया भिन्न २ होने से यह कथन ठीक नहीं क्योंकि पार्थिव रस ६ प्रकार का है और जल में केवल एक ही मधुररस है। यह बात भी संसर्ग से नहीं हो सकती। अथवा इन दोनों के रूप में भी प्रत्यक्ष भेद अवगत होने से पूर्वोक्त पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि पृथिवी में हरा पीला लाल आदि अनेक प्रकार का रूप है परन्तु जल में केवल सामान्य श्वेत रूप ही है, यह भी समझना नहीं है। सूत्र में पार्थिव और आप्य उपलक्षण मात्र हैं, इसी प्रकार पार्थिव और तैजस द्रव्यों के स्पर्श में भी महान् अन्तर देखा जाता है। इस लिये यह कथन कि भूतों के परस्पर संसर्ग से एक दूसरे के गुण उन में पाये जाते हैं, ठीक नहीं॥

जब जब कि गन्ध के अतिरिक्त रसादि भी पृथिव्यादि के गुण हैं तो घ्राणादि से उन का ग्रहण क्यों नहीं होता। इस पर कहते हैं:-

पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात्तत्तत्प्रधानम् ॥ ७० ॥ (२६९)

स०-पहिले पहिले गुण के उत्कर्ष से वह वह प्रधान है॥

गन्ध रस रूप और स्पर्श ये चार गुण पृथिवी के हैं, इन में पहला गन्ध उत्कृष्ट होने से प्रधान है पिछले तीन अनुत्कृष्ट होने से अप्रधान। ऐसे ही रस रूप और स्पर्श ये तीन गुण जल के हैं जिन में पहिला रस प्रधान और पिछले दो अप्रधान। रूप और स्पर्श ये दो गुण तेज के हैं जिन में पहिला मुख्य और दूसरा गौण है। अब इन में जो जिस का प्रधान गुण है वही उस के इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है अप्रधान नहीं। यही कारण है कि एक इन्द्रिय से अनेक गुणों का ग्रहण नहीं होता॥

पुन उक्तार्थ की ही पुष्टि करते हैं:-

तद्व्यवस्थानन्तु भूयस्त्वात् ॥ ७१ ॥ (२७०)

स० उन गुणों की व्यवस्था प्रकर्ष से है॥

पृथिवी के चार गुण होते हुये भी जो उनमें गन्ध की व्यवस्था की गई है यह पृथिवी में गन्ध गुण की प्रधानता होने से है अर्थात् जलादि से अधिक पृथिवी में भी गन्ध की उपलब्धि होती है॥

अपने २ गुणों को इन्द्रिय विना उन की सहायता के क्यों नहीं ग्रहण करते ? इस पर कहते हैं.—

सगुणानामिन्द्रियभावात् ॥ ७२ ॥ (२७१)

उ०-गुणों के सहित इन्द्रियों का इन्द्रियत्व होने से ॥

अपने गुण गन्धादि को घ्राणादि क्यों नहीं ग्रहण करते ? इस का कारण यह है कि अपने गुणों को लेकर ही घ्राणादिकों मे इन्द्रियत्व है, क्योंकि घ्राण अपने गुण गन्ध की सहायता से ही बाहर के गन्ध को ग्रहण करता है, यदि उसे अपने सहकारी गन्ध की सहायता न हो तौ वह कदापि उसका ग्रहण नहीं कर सकता, ऐसा ही और इन्द्रियो में भी समझना चाहिये ॥

यदि कहो कि जब गन्ध घ्राण का सहायक है, तो वह फिर उस का ग्रहण कैसे होता है ? इस शङ्का का समाधान करते हैं:—

तेनैव तस्याऽग्रहणाच्च ॥ ७३ ॥ (२७२)

उ०-उस ही से उस का ग्रहण नहीं होता ॥

इन्द्रिय विना अपने गुणों या उन के कारण भूतों की सहायता के अपने गुणों का ग्रहण नहीं कर सकते क्योंकि केवल उस ही से उसका ग्रहण नहीं होता। जैसे कोई कहे कि आंख जैसे बाहर के पदार्थों को दिखलाती है वैसे ही अपने को क्यों नहीं दिखलाती। इस का भी उत्तर यही है कि बाह्य रूप की सहायता न होने से। तद्वत् कार्य कारण रूप अपने २ गुणों की सहायता न होने से इन्द्रिय भी अर्थों की उपलब्धि में असमर्थ हैं ॥

अब इस पर शङ्का करते हैं –

न, शब्दगुणोपलब्धेः ॥ ७४ ॥ (२७३)

शब्द गुण की उपलब्धि होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं है ॥

इन्द्रिय अपने गुणों को ग्रहण नहीं करते यह कथन ठीक नहीं है क्यों के श्रोत्र से विना अपने में स्थित शब्द गुण के भी अपने बाह्य गुण शब्द की साक्षात् उपलब्धि होती है। अब इसका समाधान करते हैं:-

तदुपलब्धिरितरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात् ॥ ७५ ॥ (२७४)

परस्पर द्रव्यगुणों के वैधर्म्य से उस (शब्द) की उपलब्धि होती है ॥

शब्द गुणसे आकाश सगुण इन्द्रिय नहीं है और न शब्द, शब्द का व्यञ्जक है। घ्राणादि शेष इन्द्रियों का अपने गुणों को ग्रहण करना न तो प्रत्यक्ष है

और न अनुमान से ही सिद्ध होता है किन्तु श्रोत्र से शब्द का ग्रहण और शब्द गुणवान् आकाश का होना अनुमान किया जाता है। आत्मा तो श्रोता है न कि करण, मनको श्रोत्र माननेसे बहिरेपन का अभाव होगा पृथिव्यादि चार भूतों में भी घ्राणादि इन्द्रियों को बनाने का सामर्थ्य तो है परन्तु श्रोत्र को नहीं इस लिये केवल एक आकाश ही शेष रहजाता है और वही श्रोत्र इन्द्रियका कारण है॥

इन्द्रियपरीक्षाप्रकरण समाप्त हुआ ॥

इति तृतीयाऽध्याये प्रथममाह्निकम् ॥ ३ ॥ १ ॥

अथ तृतीयाऽध्यायस्य द्वितीयमाह्निकमारभ्यते

इन्द्रिय और उन के अर्थों की परीक्षा हो चुकी अब बुद्धि की परीक्षा का आरम्भ किया जाता है। पहिले इस बात का विचार करते हैं कि बुद्धि नित्य है वा अनित्य ?

कर्माकाशसाधर्म्यात् संशयः ॥ १ ॥ (२७५)

सू० कर्म और आकाश के साधर्म्य से संशय होता है॥

कर्म और आकाश के समान बुद्धि में भी अस्पर्शत्व धर्म है, परन्तु इन दोनों में से कर्म अनित्य और आकाश नित्य है। अब यह सन्देह उत्पन्न होता है कि बुद्धि कर्म के समान अनित्य है अथवा आकाश के तुल्य नित्य ? इस सूत्र पर प्रथम बुद्धि के नित्यत्व का पक्ष करते हैं:—

विषयप्रत्यभिज्ञानात् ॥ २ ॥ (२७६)

सू० विषयों की प्रत्यभिज्ञा होने से (बुद्धि नित्य है)॥

प्रत्यभिज्ञा का लक्षण कह चुके हैं जिस अर्थ को पहिले जाना था उस को अब पुनः अनुभव करता हूं यह दो ज्ञानों का एक समय में जो प्रतिसन्धान करना है इसी को प्रत्यभिज्ञान या प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। यह प्रत्यभिज्ञा बिना बुद्धि की नित्यता के नहीं हो सकती क्योंकि जो बुद्धि उत्पत्ति और विनाश वाली होती तो उस में प्रत्यभिज्ञा कभी नहीं रह सकती ज्ञान उत्पन्न होकर नष्ट होजाते फिर उन का प्रतिसन्धान किसे ? अतः बुद्धि नित्य है॥

अब इस का खण्डन करते हैं:—

साध्यसमत्वादहेतुः ॥ ३ ॥ (२७७)

सू०—साध्यसम (हेत्वाभास) होने से (यह हेतु) अहेतु है॥

जैसे बुद्धि का नित्यत्व साध्य है वैसे ही प्रत्यभिज्ञा की भी सिद्धि अपेक्षित है क्योंकि चेतन (कर्त्ता) के धर्म की उपपत्ति अचेतन (करण) में नहीं हो सकती। ज्ञान, दर्शन, उपलब्धि, बोध, प्रत्यय और अध्यवसाय ये सब चेतन के धर्म हैं, चेतन ही पहिले जाने हुवे अर्थ का पुनः अनुभव करता है इसलिये उस ही का नित्यत्व युक्त है। यदि करण को चेतन मानोगे तो चेतन के स्वरूप का निर्वचन करना पड़ेगा क्योंकि जिसके स्वरूप का निर्देश नहीं हुवा ऐसा आत्मा मानने के योग्य नहीं हो सकता। यदि ज्ञानको बुद्धि (अन्तःकरण) का धर्म मानोगे तो फिर चेतन (कर्त्ता) का क्या स्वरूप, क्या धर्म और क्या तत्व है? ज्ञान के बुद्धि में वर्त्तमान होने पर यह चेतन क्या करता है? यदि कहो कि चेतना करता है तो चेतना करना और जानना एक ही बात है। जो कहो कि पुरुष अनुभव करता है और बुद्धि जानती है तो यह भी अर्थान्तर नहीं क्योंकि अनुभव करना, जानना, समझना, देखना, प्राप्त होना ये सब एकार्थवाचक हैं। जो कहो कि बुद्धि जनाती है और पुरुष जानता है, यह सत्य है, पर ऐसा मानने पर ज्ञान पुरुष का गुण है, यही सिद्ध होता है, नकि बुद्धि (अन्तःकरण) का। यदि दोनों को चेतन मानोगे तो एक का अभाव मानना पड़ेगा क्योंकि शरीररूप अधिकरण में दो कर्त्ता नहीं हो सकते। यदि बुद्धि को ज्ञान का साधन मानाजावे तो भी विषय की प्रत्यभिज्ञा से उस का नित्यत्व सिद्ध न होगा, क्योंकि करणभेद रहते हुवे भी ज्ञाता के एक होने से प्रत्यभिज्ञा देखीजाती है, जैसे एक आंख से देखी हुई वस्तु को दूसरी आंख से देखते हैं, इसलिये उक्त हेतु से ज्ञाता का ही नित्यत्व सिद्ध होता है नकि बुद्धि का॥

जो लोग ऐसा मानते हैं कि बुद्धि स्थिर है, उस से विषयानुसार वृत्तियां निकलती हैं जैसे कि अग्नि से चिनगारियां निकलती हैं और वृत्ति और वृत्तिमान् में भेद नहीं है, अब उनका खण्डन करते हैं—

न, युगपदग्रहणात् ॥ ४ ॥ (२७८)

उ०—एक वार (अनेक विषयों का) ग्रहण न होने से (वृत्ति और वृत्तिमान् एक नहीं है)॥

यदि वृत्ति और वृत्तिमान् मे भेद न मानाजावे तो वृत्तिमान् की स्थिति से वृत्तियों की स्थिरता भी माननी पड़ेगी और वृत्तियों के स्थिर होने से

एक समय में अनेक अर्थों का ग्रहण होना चाहिये, परन्तु यह असम्भव है। इसलिये वृत्ति और वृत्तिमान् एक नहीं हो सकते॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैं।

अप्रत्यभिज्ञाने च विनाशप्रसङ्गः ॥ ५ ॥ (२७९)

सू०-और प्रत्यभिज्ञा के न रहने पर (वृत्तिमान् का) नाश मानना पड़ेगा।

प्रत्यभिज्ञारूप वृत्ति के निवृत्त होने पर वृत्तिमान् की भी निवृत्ति माननी पड़ेगी क्योंकि प्रतिवादी के मत में वृत्ति और वृत्तिमान् दो नहीं हैं अतः ज्ञान और ज्ञानवान् इन दोनों में अभेद कदापि नहीं हो सकता।

अब एक समय में अनेक ज्ञानों के न होने का कारण कहते हैं:—

क्रमवृत्तित्वादयुगपद् ग्रहणम् ॥ ६ ॥ (२८०)

सू०-(इन्द्रियों के) क्रमवृत्ति होने से युगपद्ग्रहण नहीं होता।

परिच्छिन्न (एकदेशी) मन का संयोग इन्द्रियों के साथ क्रमशः होता है इसी कारण एकबार अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते। एकबार अनेक ज्ञान न होने से भी वृत्ति और वृत्तिमान् का भेद सिद्ध है:—

अप्रत्यभिज्ञानञ्च विषयान्तरव्यासङ्गात् ॥ ७ ॥ (२८१)

सू०-विषयान्तरासक्ति से अनुपलब्धि होती है।

जब किसी विषय में मन अत्यन्त आसक्त होता है तब दूसरे विषय की उपलब्धि नहीं होती। यह बात तो वृत्ति और वृत्तिमान् के अलग २ होने से ही हो सकती है अन्यथा एक मानने से व्यासक्ति असंभव है।

अब मन के विभुत्व का खण्डन करते हैं:—

न, गत्यभावात् ॥ ८ ॥ (२८२)

सू०-गति के अभाव से (विभुपदार्थ में युगपद् अग्रहण) नहीं बनता।

यदि मन को विभु मानोगे तो उस में गति का अभाव मानना पड़ेगा और जब गति का अभाव हुआ तो फिर उस का इन्द्रियों के साथ क्रम से संयोग कैसा ? संयोग के अभाव में एकत्व मानना पड़ेगा, फिर एक साथ अनेक ज्ञान होने में क्या रोक रहेगी ? कुछ भी नहीं। परन्तु हम प्रत्यक्ष मन का क्रमशः इन्द्रियों के साथ संयोग और विषयान्तरव्यासक्ति देखते हैं, इस लिये मन को विभु मानना ठीक नहीं।

अब इस पर शङ्का करते हैं:—

स्फटिकान्यत्वाभिमानवत्तदन्यत्वाभिमानः ॥ ९ ॥ (२८३)

पू०—स्फटिक में अन्यत्वाभिमान के सदृश उस में अन्यत्व का अभिमान है॥

जैसे लाल पीले हरे आदि रङ्ग वाले पदार्थों के संयोग से स्वच्छ बिल्लौर लाल पीला हरा आदि दीख पड़ता है वस्तुतः बिल्लौर केवल श्वेतवर्ण है वैसे ही भिन्न २ विषयों के सम्बन्ध से वृत्ति भी अनेक प्रकार की सी उपलक्षित होती है, वास्तव में वृत्ति एक ही है॥ अब इस का समाधान करते हैं:—

न, हेत्वभावात् ॥ १० ॥ (२८४)

उ०—हेतु के अभाव से उक्त कथन ठीक नहीं ॥

स्फटिक का दृष्टान्त ठीक नहीं क्योंकि उस में हेतु का अभाव है, वृत्तियों में भिन्नत्व का अभिमान भ्रान्ति से नहीं होता क्योंकि गन्धादि गुणों के समान उन के ज्ञान भी प्रत्यक्षतया भिन्न २ प्रतीत होते हैं, अतएव यही क्यों न मान लिया जाय कि जैसे गन्धादि गुण भिन्न २ हैं ऐसे ही उन के ज्ञान भी भिन्न २ हैं, यदि कहो कि हेतु का अभाव दोनों के दृष्टान्तों में समान है फिर हमारा ही कथन क्यों नहीं मान लेते ? इस का उत्तर यह है कि इन्द्रिय और अर्थों के सम्बन्ध से क्रमशः ज्ञान उत्पन्न और नष्ट होते हैं इसलिये वृत्तियों के अनेकत्व में गन्धादि का दृष्टान्त बहुत ही उपयुक्त है ॥

स्फटिक के दृष्टान्त को न सहता हुवा क्षणिकवादी कहता है:—

स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः क्षणिकत्वाद् व्यक्तीनामहेतुः ११

पू०—व्यक्तियों के क्षणिक होने से स्फटिक में भी भिन्न २ व्यक्तियों के उत्पन्न होने के कारण (उक्त हेतु) अहेतु है ॥ (२८५)

यह जो कहा था कि बिल्लौर में वस्तु तथा वर्णभेद से अनेकत्व की भ्रान्ति होती है, वास्तव में स्फटिक अपने स्वरूप से अवस्थित है, इस पर क्षणिकवादी शङ्का करता है कि यह हेतु ठीक नहीं क्योंकि सब व्यक्तियों के क्षणिक होने से स्फटिक में भी कोई व्यक्ति उत्पन्न होती हैं और कोई नष्ट। सब वस्तु क्षणिक हैं, इस का प्रमाण वस्तुओं के घटने बढ़ने, शरीरों के संयोग वियोग और आहार के पाक विरेचन आदि से सिद्ध है, वृद्धि उत्पत्ति का

कारण है और ह्रास नाश का। अतः पदार्थों के क्षणिक होने से उन का परिणाम काल्पनिक नहीं किन्तु वास्तविक है। अब इस का उत्तर देते हैं:-

नियमहेत्वभावाद्यथादर्शनमभ्यनुज्ञा ॥ १२ ॥ (२८६)

उ०-नियामक हेतु के अभाव से जैसा देख पड़े वैसा मानना चाहिये।

सब पदार्थों में वृद्धि और नाश का नियम शरीर के ही समान नहीं देखा जाता, न ही यह बात प्रत्यक्ष से सिद्ध होती है और न इस का साधक अनुमान ही है, इसलिये जहां जैसा देख पड़े वहां वैसा ही मानना चाहिये। शरीरादि में बढ़ना घटना नियम से देखा जाता है इस लिये उन को क्षणिक मानलो, परन्तु स्फटिकादि में नियम पूर्वक ऐसा नहीं देखा जाता, इसलिये उन को भी क्षणिक मानना ठीक नहीं। जैसे कोई नीम की तिक्तता को लेकर सब वृक्षों को कड़ुवा कहने लगे वैसा ही तुम्हारा कथन है॥

इसी की पुष्टि में दूसरा हेतु देते हैं:-

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥ १३ ॥ (२८७)

उ०-उत्पत्ति और विनाश के कारणों की उपलब्धि होने से (भी) उक्त कथन ठीक नहीं॥

जैसे वल्मीक आदि में अवयवों का बढ़ना रूप उत्पत्तिकारण और घटादि में अवयवों का विभाग रूप विनाशकारण देखने में आता है, ऐसे स्फटिकादि में उत्पत्ति और विनाश के कारण जानने में नहीं आते। अतः उन को क्षणिक मानना ठीक नहीं॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:-

क्षीरविनाशे कारणानुपलब्धिवद्दध्युत्पत्तिवच्च तदुपपत्तिः १४

पू०-दूध के नाश होने पर जैसे कारण की उपलब्धि नहीं होती तथा दही की उत्पत्ति के समान उन की भी सिद्धि (माननी चाहिये)॥ (२८८)

यह जो कहा कि जिन की उत्पत्ति और विनाश के कारण जानने में आते हैं वे ही क्षणिक होते हैं अन्य नहीं तब उत्पत्ति और विनाश के कारण तो दूध और दही के भी नहीं जान पड़ते तो क्या इन को भी नित्य मानोगे? अब जैसे दूध और दही में विनाश और उत्पत्ति के अनुरूप कारण माने जाते हैं ऐसे ही स्फटिक में भी जानलो॥

अब इस का समाधान करते हैं:-

लिङ्गतो ग्रहणान्नानुपलब्धिः ॥ १५ ॥ (२८९)

उ०-लिङ्ग से ग्रहण होने के कारण अनुपलब्धि नहीं है ॥

दूध का नाश और दही की उत्पत्ति लिङ्ग से अनुमान किये जाते हैं, इस लिये उन के कारण की उपलब्धि होती है, परन्तु स्फटिकादि द्रव्यों में तो भिन्न २ व्यक्तियों के उत्पन्न और विनाश होने का कोई लिङ्ग देखने में नहीं आता, इस लिये उन के कारणों का अनुमान नहीं किया जासकता॥

अब पुनः शङ्का करते हैं:-

न, पयसः परिणामगुणान्तरप्रादुर्भावात् ॥ १६ ॥ २९० ॥

पू०-दूध के परिणाम (अर्थात्) गुणान्तर प्रादुर्भाव होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं ॥

अन्य गुण के प्रादुर्भाव को परिणाम कहते हैं सो दूध में मधुररस की निवृत्ति और अम्लरस की उत्पत्तिरूप परिणाममात्र होता है न कि द्रव्य का विनाश । अतः सब पदार्थ स्वरूप से सत् हैं केवल उन में गुणों का प्रादुर्भाव और तिरोभाव रूप परिणाम होता रहता है ॥

अब इस का उत्तर देते हैं:-

व्यूहान्तराद्द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनं पूर्वद्रव्यनिवृत्तेरनुमानम् ॥ १७ ॥ (२९१)

उ०-रचनान्तर से द्रव्यान्तर की उत्पत्ति का दीखना पूर्वद्रव्य की निवृत्ति का अनुमान कराता है ॥

दूध की रचना और प्रकार की है जब उस से भिन्न प्रकार की रचना वाला दही बनजाता है तब दूध के अवयवों का विभाग या परिणाम होने से दूध निवृत्त होगया या नष्ट होगया ऐसा अनुमान होता है । जैसे मट्टी के अवयवों से घड़ा बनने पर मट्टी का नाश और घट की उत्पत्ति मानी जाती है, ऐसे ही दूध से दही बनने पर दूध का नाश और दही की उत्पत्ति माननी पड़ेगी, अतः परिणाम उत्पत्ति और विनाश का बाधक नहीं होसकता ॥

पुनः इसी की पुष्टि करते हैं :-

क्वचिद्विनाशकारणानुपलब्धेः क्वचिच्चोपलब्धेरनेकान्तः ॥ १८ ॥ (२९२)

उ०-कहीं विनाशकारणों की अनुपलब्धि होने से और कहीं उपलब्धि होने से (तुम्हारा पक्ष) अनेकान्त है ॥

दूध और दही में विनाश और उत्पत्ति के कारण प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं, स्फटिकादि में नहीं होते, इस लिये स्फटिकादि में उत्पत्ति और विनाश सिद्ध करने के लिये दूध और दही का दृष्टान्त देना अनेकान्त होने से सर्वथा अनुपपन्न है । अतः स्फटिकादि के समान बुद्धिवृत्ति की अनेकता काल्पनिक नहीं; किन्तु वास्तविक है, इस से बुद्धि का अनित्य होना सिद्ध है ॥

अब इस बात की मीमांसा की जाती है कि आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थ इन में से बुद्धि किस का गुण है ?

नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात् ॥ १९ ॥ (२९३)

उ०-(बुद्धि) इन्द्रिय और अर्थ का (गुण) नहीं, उन के नाश होने पर भी ज्ञान की अवस्थिति होने से ॥

यदि बुद्धि इन्द्रिय वा अर्थ का गुण होती तो उन के विनाश होने पर उस की अवस्थिति नहीं हो सकती थी, परन्तु जब हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि चक्षु इन्द्रिय और उस का दृष्ट विषय ये दोनों नहीं रहते तब भी " मैंने देखा था " यह ज्ञान शेष रहता है, इस से सिद्ध है कि बुद्धि (ज्ञान) इन्द्रिय या अर्थ का गुण नहीं है । तो क्या बुद्धि मन का गुण है ? इस का निषेध अगले सूत्र से करते हैं:-

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः ॥ २० ॥ (२९४)

उ०-और एक साथ अनेक ज्ञेयों की उपलब्धि न होने से मन का (भी गुण बुद्धि) नहीं है ॥

एक साथ अनेक ज्ञानों का न होना मन का लक्षण है इस से अनुमान होता है कि बुद्धि (ज्ञान) मन का भी गुण नहीं है क्योंकि यदि मन का गुण होता तो मन में एक ज्ञान के होते दूसरे ज्ञान का अभाव न होता । तो फिर बुद्धि किस का गुण है ? ज्ञाता का । ज्ञाता कौन है ? आत्मा । यद्यपि आत्मा स्वतन्त्र है, तथापि विषयोपलब्धि में वह करणों की अपेक्षा

रखता है, क्योंकि घ्राणादि इन्द्रियों के होने पर ही गन्धादि विषयों का ज्ञान आत्मा को होता है, इस से अनुमान होता है कि अन्तःकरणादि साधन युक्त आत्मा को ही सुखादि का ज्ञान और स्मृति उत्पन्न होती है। बस इस से सिद्ध है कि ज्ञान गुण वाला आत्मा है और सुखादि की उपलब्धि का साधन मन है॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:-

तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम् ॥ २१ ॥ (२९५)

पू०-उस के आत्मा का गुण होने पर भी (दोष) बराबर है॥

आत्मा सब इन्द्रियों में व्याप्त है फिर एक समय में अनेक ज्ञान क्यों उत्पन्न नहीं होते ? अब इस का उत्तर देते हैं:-

इन्द्रियैर्मनसः सन्निकर्षाभावात्तदनुत्पत्तिः ॥२२॥ (२९६)

उ०-इन्द्रियों के साथ मन का संयोग न होने से उन की उत्पत्ति नहीं होती॥

जैसे गन्धादि विषयों के ज्ञान में इन्द्रिय और अर्थ के संयोग की अपेक्षा है ऐसे ही इन्द्रिय और मन का योग भी विषयज्ञान में हेतु है। मन अणु होने के कारण एक साथ अनेक विषयों से संयुक्त नहीं होसकता अतएव एकसाथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं होती॥ पुनः शङ्का करते हैं:-

नोत्पत्तिकारणानपदेशात् ॥ २३ ॥ (२९६)

पू०-उत्पत्ति का कारण न कहने से (उक्त कथन) ठीक नहीं॥

बुद्धि की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं बतलाया, मन और इन्द्रियों का संयोग ज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त हो सकता है, न कि उपादान॥

अब बुद्धि के आत्मगुण होने में दोष दिखलाते हैं:-

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्गः २४ (२९७)

पू०-विनाशकारण की अनुपलब्धि से (बुद्धि की सर्वदा) स्थिति होने पर उस के नित्यत्व की प्रसक्ति होगी॥

आत्मा नित्य है इसलिये उस के सब गुण भी नित्य मानने पड़ेंगे, अब बुद्धि आत्मा का गुण है तो उस के विनाशकारण का अभाव होगा, विनाश के अभाव में आत्मवत् उस की सर्वदा अवस्थिति माननी पड़ेगी॥

अब इस का उत्तर देते हैं:-

अनित्यत्वाद् बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद्विनाशः शब्दवत् ॥ २५ ॥ (२९८)

क्वचिद्विनाशकारणानुपलब्धेः क्वचिच्चोपलब्धेरनेकान्तः ॥ १८ ॥ (२९२)

उ०–कहीं विनाशकारणों की अनुपलब्धि होने से और कहीं उपलब्धि होने से (तुम्हारा पक्ष) अनैकान्त है ॥

दूध और दही में विनाश और उत्पत्ति के कारण प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं, स्फटिकादि में नहीं होते, इस लिये स्फटिकादि में उत्पत्ति और विनाश सिद्ध करने के लिये दूध और दही का दृष्टान्त देना अनैकान्त होने से सर्वथा अनुपपन्न है। अतः स्फटिकादि के समान बुद्धिवृत्ति की अनेकता काल्पनिक नहीं, किन्तु वास्तविक है, इस से बुद्धि का अनित्य होना सिद्ध है ॥

अब इस बात की मीमांसा की जाती है कि आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थ इन में से बुद्धि किस का गुण है ?

नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात् ॥ १९ ॥ (२९३)

उ०–(बुद्धि) इन्द्रिय और अर्थ का (गुण) नहीं, उन के नाश होने पर भी ज्ञान की अवस्थिति होने से ॥

यदि बुद्धि इन्द्रिय वा अर्थ का गुण होती तो उन के विनाश होने पर उस की अवस्थिति नहीं हो सकती थी, परन्तु जब हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि चक्षु इन्द्रिय और उस का कुछ विषय ये दोनों नहीं रहते तब भी " मैंने देखा था " यह ज्ञान शेष रहता है, इस से सिद्ध है कि बुद्धि (ज्ञान) इन्द्रिय या अर्थ का गुण नहीं है। तो क्या बुद्धि मन का गुण है ? इस का निषेध अगले सूत्र से करते हैं:–

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः ॥ २० ॥ (२९४)

उ०–और एक साथ अनेक ज्ञेयों की उपलब्धि न होने से मन का (भी गुण बुद्धि) नहीं है ॥

एक साथ अनेक ज्ञानों का न होना मन का लक्षण है इस से अनुमान होता है कि बुद्धि (ज्ञान) मन का भी गुण नहीं है क्योंकि यदि मन का गुण होता तो मन में एक ज्ञान के होते दूसरे ज्ञान का अभाव न होता। तो फिर बुद्धि किस का गुण है ? ज्ञाता का। ज्ञाता कौन है ? आत्मा। यद्यपि आत्मा स्वतन्त्र है, तथापि विषयोपलब्धि में वह करणों की अपेक्षा

स्मरतः शरीरधारणोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥ २९ ॥ (३०२)

उ०-स्मर्त्ता का शरीरधारण सिद्ध होने से निषेध युक्त नहीं ॥

जब यह मन किसी बात को स्मरण करना चाहता है तब एकाग्र होकर सर्वात्मना उस विषय को स्मरण करता है, उस समय स्मर्त्ता का शरीर स्तब्ध और स्थित हो जाता है, यदि मन शरीर के भीतर न होता तो शरीर का स्तब्ध और स्थित होना कैसे बन सकता? आत्मा और मन के संयोग से जो प्रयत्न उत्पन्न होता है, वह दो प्रकार का है एक धारक और दूसरा प्रेरक। मन के शरीर से बाहर निकलने पर धारक प्रयत्न के अभाव से गुरुत्व के कारण शरीर को गिरपड़ना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता इस से सिद्ध है कि मन के शरीरान्तर्वर्त्ती होने से धारक प्रयत्न का अभाव कभी नहीं होता ॥

फिर आक्षेप करते हैं:-

न, तदाशुगतित्वान्मनसः ॥ ३० ॥ (३०३)

पू०-मन के शीघ्रगामी होने से (उक्त दोष) नहीं आ सकता ॥

मन शीघ्रगामी है, इस लिये उस का बाहर और भीतर दोनों जगह होना बन सकता है। बाहर आकर वह ज्ञानसंस्कारों से मिल कर स्मृति को उत्पन्न कराता है और फिर भीतर जाकर धारक प्रयत्न को उत्पन्न करके शरीर का धारण कराता है ॥ पुनः इस का परिहार करते हैं:-

न, स्मरणकालाऽनियमात् ॥ ३१ ॥ (३०४)

उ०-स्मरणकाल के नियत न होने से (उक्त कथन) नहीं बन सकता ॥

कोई बात शीघ्र स्मरण की जाती है और कोई विलम्ब से, इस से सिद्ध है कि स्मरण का कोई काल नियत नहीं है। बहुत से ऐसे भी विषय हैं कि जिन में बारम्बार और लगातार लगाया हुआ भी मन स्मरणहेतुओं के न होने से उन का स्मरण नहीं कर सकता या बहुत देर से करता है, यदि मन बहिर्गामी भी होता तो उस को स्मरण में ऐसी कठिनतायें न होतीं किन्तु उस के लिये क्षिप्रस्मरणीय और चिरस्मरणीय का भेद ही न होता। इस के अतिरिक्त आत्मा के भोगायतन शरीर की अपेक्षा रखता हुआ ही मन और आत्मा का संयोग स्मृति का कारण होसकता है, शरीर से बाहर होकर नहीं॥

पुनः पूर्वपक्षी कहता है:-

उ०—बुद्धि के अनित्य होने के कारण ज्ञानान्तर से (उस का) विनाश शब्दवत् (माना जाता है) ॥

बुद्धि का अनित्य होना प्रत्यात्मवेदनीय है, जैसे शब्दान्तर के उत्पन्न होने पर पहिला शब्द नष्ट होजाता है ऐसे ही दूसरे ज्ञान के उत्पन्न होने पर पहिला ज्ञान नहीं रहता, इसको प्रत्येक मनुष्य जानता है। जब बुद्धि उत्पन्न होकर विनष्ट होने वाली है तब वह नित्य आत्मा का गुण क्योंकर हो सकती है? इस के अतिरिक्त बुद्धि को आत्मा का गुण मानने से एककाल में अनेक ज्ञान होने चाहियें, क्योंकि ज्ञान के साधन अनेक संस्कार आत्मा में विद्यमान हैं और आत्मा का मन के साथ संयोग भी निरन्तर ही रहता है फिर क्यों एकसाथ अनेक ज्ञान नहीं होते? इस पर आत्मा और मन के संयोग को निरन्तर न मानने वाला कहता है:—

ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षान्मनसः
स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिः ॥२६॥ (२९९)

पू०—ज्ञानसंयुक्त आत्मप्रदेशों के साथ मन का संयोग होने से स्मृति की उत्पत्ति होती है, अतः एकसाथ (अनेक ज्ञानों की) उत्पत्ति नहीं होती ॥

ज्ञान से अभिप्राय संस्कार का है अर्थात् शरीर के जिस देश में संस्कार युक्त आत्मा होता है उस में मन का संयोग होने से स्मृति उत्पन्न होती है, यही कारण है कि एक समय में अनेक स्मृतियां नहीं होतीं ॥

अब इस का उत्तर देते हैं—

नान्तः शरीरवृत्तित्वान्मनसः ॥ २७ ॥ (३००)

उ०—मन के अन्तःशरीरवृत्तिवाला होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं ॥

मन इस शरीर में अन्तश्चारी है, शरीर के भीतर रहने वाले मन का शरीर से बाहर स्थित हुवे ज्ञानसंस्कृत आत्मप्रदेशों के साथ संयोग हो नहीं सकता ॥ फिर शङ्का करते हैं:—

साध्यत्वादहेतुः ॥ २८ ॥ (३०१)

पू०—साध्य होने से (उक्त हेतु) अहेतु है ॥

जब तक मन का शरीरान्तश्चारी होना सिद्ध न होजाय, तब तक वह अपने पक्ष की सिद्धि में हेतु कैसे होसकता है ॥ अब इस का समाधान करते हैं:—

बुद्धि की स्फूर्ति को प्रतिभा कहते हैं, उस से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उस का नाम 'प्रातिभ' है, जैसे प्रातिभ ज्ञान अकस्मात् उत्पन्न हो जाता है, ऐसे ही चित्त के समाधान आदि की जिस में अपेक्षा नहीं है ऐसे आकस्मिक स्मरण से उत्पन्न हुवे ज्ञान में तो एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति माननी पड़ेगी ॥

अब जो लोग ज्ञान को पुरुष का और इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख और दुःख को केवल अन्तःकरण का धर्म मानते हैं उन के मत का खण्डन करते हैं:-

ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्त्योः ॥ ३६ ॥ (३०९)

उ०-ज्ञाता की प्रवृत्ति और निवृत्ति ही इच्छा द्वेष का मूल होने से (इच्छादि आत्मा के लिङ्ग हैं) ॥

आत्मा पहिले इस बात को जानता है कि यह मेरा सुखसाधन है और यह दुःखसाधन। फिर जाने हुवे सुखसाधन के ग्रहण और दुःखसाधन के त्याग करने की इच्छा करता है, इच्छा से युक्त हुवा सुखप्राप्ति और दुःख निवृत्ति के लिये यत्न करता है। इस प्रकार ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, सुख और दुःख; इन सब का एक के साथ सम्बन्ध है और वह आत्मा है। इस लिये इच्छादि छहों लिङ्ग चेतन आत्मा के हैं, न कि अचेतन अन्तःकरण के ॥

अब इस पर शङ्का करते हैं:-

तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः ॥३७॥(३१०)

पू०-इच्छा और द्वेष के प्रवृत्ति और निवृत्ति का लिङ्ग होने से पृथिवी आदि (भूतों के सङ्घात शरीर) में निषेध नहीं हो सकता ॥

प्रवृत्ति और निवृत्ति के चिन्ह इच्छा और द्वेष हैं अर्थात् इच्छा से प्रवृत्ति और द्वेष से निवृत्ति होती है और ये दोनों इच्छा और द्वेष शरीर के धर्म हैं, क्योंकि इन का सम्बन्ध चेष्टा से है और चेष्टा का आश्रय शरीर है, अतएव इच्छादि शरीर के ही धर्म हैं ॥ अब उक्त पक्ष में दोष देते हैं:-

परश्वादिष्वारम्भनिवृत्तिदर्शनात् ॥ ३८ ॥ (३११)

कुम्भादिष्वनुपलब्धेरहेतुः ॥ ३९ ॥ (३१२)

उ०-कुठारादि में आरम्भ और निवृत्ति तथा कुम्भादि में उन की उपलब्धि न होने से (उक्त हेतु अहेतु है) ॥

आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिश्च न संयोगविशेषः ॥३२॥ (२०५)

पू०-आत्मा की प्रेरणा, या अकस्मात्, या ज्ञान से संयोगविशेष नहीं हो सकता ॥

यदि आत्मा किसी अर्थ को जानने के लिये मन को प्रेरणा करे तो वह अर्थ स्मरणीय न रहेगा किन्तु स्मृत होजायगा क्योंकि आत्माने पहिले स्मरण करके फिर उस की प्रेरणा की, अतः आत्मा की प्रेरणा से संयोगविशेष नहीं होता। इसी प्रकार जब स्मरण करने की इच्छा से युक्त हुआ मन किसी विषय को स्मरण करता है, तब यह संयोगविशेष आकस्मिक भी नहीं हो सकता और ज्ञान तो मन में है ही नहीं फिर उस से संयोग कैसा ?

अब इस का परिहार करते हैं:-

व्यासक्तमनसः पादव्यथनेन संयोगविशेषेण समानम् ॥३३॥

उ०-जिस का मन किसी विषय में लगा हुआ है उस के पैर में कांटा चुभने से संयोगविशेष के समान जानना पड़ता है ॥ (२०६)

किसी पुरुष का मन चाहे कैसा ही किसी काम में लगा हुआ हो, यदि उस के पैर में कांटा चुभजाय तो वह तत्काल दुःख का अनुभव होता है, इस से आत्मा और मन का संयोगविशेष सिद्ध होता है ॥

अब एकसाथ अनेक स्मृति न होने का कारण कहते हैं:-

प्रणिधानलिङ्गादिज्ञानानामयुगपद्भावाद् युगप-
दस्मरणम् ॥ ३४ ॥ (२०७)

उ०-चित्त की एकाग्रता और लिङ्ग आदि ज्ञानों के एकसाथ न होने से एक समय में अनेक स्मरण नहीं होते ॥

जैसे आत्मा और मन का संयोग तथा संस्कार स्मृति के कारण हैं वैसे ही चित्त की एकाग्रता और लिङ्ग आदि के ज्ञान भी कारण हैं और वे सब एकसाथ नहीं होते फिर उन से होने वाली स्मृतियां एकसाथ कैसे हो सकती हैं ? अब उक्त पक्ष का विशेषरूप से अपवाद कहते हैं:-

प्रातिभवत्तु प्रणिधानाद्यनपेक्षे स्मार्ते यौगपद्यप्रसङ्गः ३५॥२०८

उ०-प्रातिभ ज्ञान के समान चित्त की एकाग्रता की अपेक्षा जिस में नहीं है ऐसे स्मार्त ज्ञान में यौगपद्य (एकसाथ अनेक ज्ञान होने की) प्रसक्ति होगी ॥

बुद्धि की स्फूर्ति को प्रतिभा कहते हैं, उस से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उस का नाम 'प्रातिभ' है, जैसे प्रातिभ ज्ञान अकस्मात् उत्पन्न हो जाता है, ऐसे ही चित्त के समाधान आदि की जिस में अपेक्षा नहीं है ऐसे आकस्मिक स्मरण से उत्पन्न हुवे ज्ञान में तो एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति माननी पड़ेगी ॥

अब जो लोग ज्ञान को पुरुष का और इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख और दुःख को केवल अन्तःकरण का धर्म मानते हैं उन के मत का खण्डन करते हैं:-

ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्त्योः ॥ ३६ ॥ (३०९)

उ०-ज्ञाता की प्रवृत्ति और निवृत्ति ही इच्छा द्वेष का मूल होने से (इच्छादि आत्मा के लिङ्ग हैं) ॥

आत्मा पहिले इस बात को जानता है कि यह मेरा सुखसाधन है और यह दुःखसाधन। फिर जाने हुवे सुखसाधन के ग्रहण और दुःखसाधन के त्याग करने की इच्छा करता है, इच्छा से युक्त हुवा सुखप्राप्ति और दुःख निवृत्ति के लिये यत्न करता है। इस प्रकार ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, सुख और दुःख; इन सब का एक के साथ सम्बन्ध है और वह आत्मा है। इस लिये इच्छादि छहों लिङ्ग चेतन आत्मा के हैं, न कि अचेतन अन्तःकरण के ॥

अब इस पर शङ्का करते हैं:-

तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः ॥३७॥(३१०)

पू०-इच्छा और द्वेष के प्रवृत्ति और निवृत्ति का लिङ्ग होने से पृथिवी आदि (भूतों के सङ्घात शरीर) में निषेध नहीं हो सकता ॥

प्रवृत्ति और निवृत्ति के चिन्ह इच्छा और द्वेष हैं अर्थात् इच्छा से प्रवृत्ति और द्वेष से निवृत्ति होती है और ये दोनों इच्छा और द्वेष शरीर के धर्म हैं, क्योंकि इन का सम्बन्ध चेष्टा से है और चेष्टा का आश्रय शरीर है, अतएव इच्छादि शरीर के ही धर्म हैं ॥ अब उक्त पक्ष में दोष देते हैं:-

परश्वादिष्वारम्भनिवृत्तिदर्शनात् ॥ ३८ ॥ (३११)

कुम्भादिष्वनुपलब्धेरहेतुः ॥ ३९ ॥ (३१२)

उ०-कुठारादि में आरम्भ और निवृत्ति तथा कुम्भादि मे उन की उपलब्धि न होने से (उक्त हेतु अहेतु है) ॥

यदि आरम्भ और निवृत्ति के होने से इच्छादि शरीर के गुण मानेंगे तो कुठार आदि करणों में भी इस की अतिव्याप्ति होगी क्योंकि कुठार आदि में भी आरम्भ और निवृत्ति रूप क्रिया देखने में आती है। इसी प्रकार कुम्भादि में आरम्भ और बालू आदि में निवृत्ति के होने पर भी इच्छा और द्वेष की उपलब्धि उन में नहीं होती, अतएव इच्छा और द्वेष के प्रवृत्ति और निवृत्ति लिङ्ग हैं यह हेतु हेत्वाभास है॥

प्रतिपक्षी के हेतु का खण्डन करके अब सिद्धान्त कहते हैं:—

नियमानियमौ तु तद्विशेषकौ ॥ ४० ॥ (३१३)

उ०—उन (इच्छा और द्वेष) के भेदक तो नियम और अनियम हैं॥

आत्मा (प्रयोक्ता) के इच्छा और द्वेष मूलक प्रवृत्ति और निवृत्ति स्वाश्रय नहीं हैं किन्तु प्रयोज्य (शरीर) के आश्रय हैं। प्रत्युत्पन्न भूतों में प्रवृत्ति और निवृत्ति होती हैं, सब में नहीं, इस लिये अनियम की उपपत्ति है और आत्मा की प्रेरणा से भूतों में इच्छाद्वेष निमित्तक प्रवृत्ति और निवृत्ति उत्पन्न होती हैं बिना प्रेरणा के नहीं इस लिये नियम की उपपत्ति है तात्पर्य यह है कि इच्छा और द्वेष प्रयोजक (आत्मा) के आश्रित हैं और प्रवृत्ति और निवृत्ति प्रयोज्य (शरीर) के आश्रित हैं, अतएव इच्छादि आत्मा के लिङ्ग हैं॥

अब इच्छादि अन्तःकरणधर्म न होने में दूसरी युक्ति कहते हैं:—

यथोक्तहेतुत्वात्पारतन्त्र्यादकृताभ्यागमाच्च न मनसः ॥ ४१ ॥ (३१४)

उ०—उक्त हेतु से (तथा) मन के परतन्त्र होने से और बिना किये हुवे की प्राप्ति होने से भी (इच्छादि) मन के धर्म नहीं हैं॥

इस सूत्र में मन शब्द से शरीर, इन्द्रिय और मन तीनों का ग्रहण करना चाहिये। आत्मसिद्धि के अब तक जितने हेतु कहेगये हैं, उन से इच्छादि का आत्मलिङ्ग होना सिद्ध ही है उन के अतिरिक्त मन आदि के परतन्त्र होने से भी इच्छादि उन के धर्म नहीं हो सकते, क्योंकि मन आदि क्रिया में स्वतन्त्रता से नहीं किन्तु आत्मा की प्रेरणा से प्रवृत्त होते हैं इस के अतिरिक्त यदि मन आदि को स्वतन्त्र कर्ता माना जावे तो अकृताभ्यागम रूप (करे कोई और भरे कोई) दोष आता है क्योंकि शुभाशुभ कर्मों की स्वतन्त्रता

से करें तो ये, और उन का फल जन्मान्तर में भोगना पड़े अन्य अन्तःकरण को और यह हो नहीं सकता ॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैंः—

परिशेषाद्यथोक्तहेतूपपत्तेश्च ॥ ४२ ॥ (३१५)

उ०-परिशेष और उक्त हेतुओं की उपपत्ति से भी (ज्ञानादि आत्मा के धर्म हैं) ॥

जब यह बात उपपत्तियों से सिद्ध होगई कि ज्ञानादि-इन्द्रिय, मन और शरीर के धर्म नहीं है, तब इन से शेष क्या रहता है? आत्मा। बस आत्मा के धर्म ज्ञानादि स्वतः सिद्ध होगये। इस के अतिरिक्त इस शास्त्र में अब तक जो आत्मसिद्धि के हेतु दियेगये हैं, यथा—"दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्" इत्यादि; उन से भी ज्ञानादि आत्मा के ही धर्म सिद्ध होते हैं ॥

अब स्मृति का भी आत्मगुण होना प्रतिपादन करते हैंः—

स्मरणन्त्वात्मनोज्ञस्वाभाव्यात् ॥ ४३ ॥ (३१६)

उ०—ज्ञाता का स्वभाव होने से स्मरण भी आत्मा का ही धर्म है ॥

स्मृति ज्ञान के आश्रित है, क्योंकि जाना, जानता हूं, जानूगा इत्यादि त्रैकालिक स्मृतियां ज्ञान के द्वारा ही उत्पन्न होती हैं। जब ज्ञान आत्मा का स्वभाव है अर्थात् ज्ञान और चेतनता का तादात्म्य सम्बन्ध है तब स्मृति, जो उस से उत्पन्न होती है, आत्मा के अतिरिक्त दूसरे का धर्म क्योंकर हो सकती है?

अब जिन २ कारणों से स्मृति उत्पन्न होती है, उन को कहते हैं—

प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसम्बन्धानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयाऽर्थित्वक्रियारागधर्माऽधर्मनिमित्तेभ्यः ॥ ४४ ॥ (३१७)

उ०-प्रणिधान आदि निमित्तों से (स्मृति उत्पन्न होती है) ॥

१-स्मरण की इच्छा से मन को किसी एक विषय में लगादेना प्रणिधान कहलाता है, इस से स्मृति उत्पन्न होती है। २ एक ग्रन्थ में अनेक अर्थों के परस्पर सम्बन्ध को निबन्ध कहते हैं, जिस से एक अर्थ का ज्ञान दूसरे अर्थ की स्मृति का हेतु होता है। ३ किसी विषय का बार बार बोध होने से जो तद्विषयक संस्कार उत्पन्न होते हैं, उन को अभ्यास कहते हैं, यह भी स्मृति का कारण है। ४ लिङ्ग अर्थात् धूम को देखने से लिङ्गी

अग्नि का स्मरण होता है। ५ लक्षण चिन्ह को कहते हैं, जैसे कपि की ध्वजा देखकर अर्जुन का और काषाय वस्त्र देख कर यति का स्मरण होता है। ६ सादृश्य अर्थात् समता, जैसे चित्र (फोटो) को देख कर चित्रस्थ व्यक्ति का स्मरण होता है। ७ परिग्रह=स्वस्वामिभाव, जैसे सेवक के देखने से स्वामी और स्वामी के देखने से सेवक का स्मरण होता है। ८-९ आश्रय और आश्रित, ये दोनों एक दूसरे के स्मारक होते हैं, जैसे अध्यक्ष अपने अधीन का और और अधीन अपने अध्यक्ष का। १० सम्बन्ध=जैसे गुरु से शिष्य और शिष्य से गुरु का स्मरण होता है। ११ आनन्तर्य=एक काम के पीछे जो दूसरा कियाजाय जैसे ब्रह्मयज्ञ के पश्चात् देवयज्ञ का स्मरण होता है। १२ वियोग-जिस का वियोग होता है उस का स्मरण होता है। १३ एककार्य-यदि अनेक एक कामके करने वाले हों तो वे परस्पर एक दूसरेके स्मारक होते हैं। १४ विरोध=जिनका आपस में विरोध है वे भी एक दूसरे के स्मारक होते हैं, जैसे सर्प से नकुल का और नकुल से सर्प का। १५ अतिशय=आधिक्य से जैसे अतिशौर्य से रावण का और अति बल से भीम का स्मरण होता है। १६ प्राप्ति=जिस से जिस को जिस की प्राप्ति होती है वा होने वाली है वह उस प्राप्तिके निमित्त से उस को स्मरण करता है। १७ व्यवधान=आवरण, जैसे भित्ति के देखने से गृह और म्यान के देखने से खड्ग का स्मरण होता है। १८-१९ सुख, दुःख से उनके हेतु का, २० इच्छा और २१ द्वेष से इष्ट और अनिष्ट का; २२ भय से, जिस से डरता है, उस का, २३ अर्थित्व से दाता का; २४ क्रियासे कर्ता का, २५ राग से जिस को चाहता है उस का, २६ धर्म और २७ अधर्म से सुख दुःख तथा उन के अदृष्ट कारणों का स्मरण होता है॥

बुद्धि का आत्मधर्म होना सिद्ध कर चुके, अब यह संदेह होता है कि बुद्धि शब्दवत् उत्पत्ति और विनाश वाली है अथवा कुम्भवत् कालान्तर तक ठहरने वाली है इन दोनों पक्षों में से पहला पक्ष सिद्ध करते हैं:—

कर्मानवस्थायिग्रहणात् ॥ ४५ ॥ (३१८)

अ०—अनवस्थायी कर्म के ग्रहण करने से (बुद्धि उत्पत्ति और विनाश वाली है)॥

प्रत्यक्ष अर्थ के लिये बुद्धि नियत है जब तक जिस अर्थ का सम्बन्ध बुद्धि के साथ रहता है तब तक ही तद्विषयी बुद्धि भी रहती है, अर्थ के अस्पष्ट होने पर बुद्धि की उत्पत्ति और विनाश होने पर बुद्धि का नाश हो

जाता है, जैसे जब तक कोई पदार्थ सामने धरा है, तब तक उस का ज्ञान है और जब वह परोक्ष हो जाता है तब उस का ज्ञान भी नहीं रहता, अतएव अस्थायी कर्म की ग्राहक होने से बुद्धि क्षणिक है॥

फिर इसी की पुष्टि करते हैं—

बुद्ध्यवस्थानात् प्रत्यक्षत्वे स्मृत्यभावः ॥ ४६ ॥ (३१९)

उ०–बुद्धि के अवस्थान से प्रत्यक्ष होने पर स्मृति का अभाव होता है ॥

जब तक ज्ञान रहता है, तब तक ज्ञेय पदार्थ प्रत्यक्ष रहता है, प्रत्यक्ष के विद्यमान होने पर स्मृति उत्पन्न हो नहीं सक्ती । जब तक प्रत्यक्ष है तब तक स्मृति नहीं और जब स्मृति है तो प्रत्यक्ष नहीं अतएव बुद्धि अनित्य है ॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:–

अव्यक्तग्रहणमनवस्थायित्वात् विद्युत्सम्पाते रूपाव्यक्तग्रहणवत् ॥ ४७ ॥ (३२०)

पू०–अनवस्थायी होने से जैसे बिजली के गिरने पर उसका अस्पष्ट रूप ग्रहण किया जाता है, ऐसे ही ज्ञेय का अस्पष्ट ग्रहण होगा ॥

यदि बुद्धि उत्पत्ति और विनाश धर्म वाली है तो उस से ज्ञेय का स्पष्ट रूप से ग्रहण न होना चाहिये, जैसे बिजली के गिरते समय उस के प्रकाश के अस्थिर होने से रूप का ज्ञान स्पष्ट नहीं होता, परन्तु बुद्धि से तो द्रव्यों का स्पष्ट ज्ञान होता है, इस लिये यह कथन अयुक्त है ॥

अब इस का उत्तर देते हैं:—

हेतूपादानात् प्रतिषेद्धव्याऽभ्यनुज्ञा ॥ ४८ ॥ (३२१)

उ०–हेतु के उपादान से प्रतिषेद्धव्य अर्थ का अङ्गीकार है ॥

प्रतिवादी ने जो बिजली का दृष्टान्तरूप हेतु दिया है, उस से ही बुद्धि का अनवस्थित होना सिद्ध है, क्योंकि जैसे विद्युत्प्रकाश के अस्थायी होने से केवल उस का ही अव्यक्त ग्रहण होता है नकि उन पदार्थों का जिन पर बिजली का प्रकाश पड़ता है, ऐसे ही बुद्धि के अस्थायी होने से केवल उस का ही अव्यक्त ग्रहण है, नकि बुद्धिगम्य पदार्थों का, अतएव प्रतिवादी के ही हेतु से बुद्धि का अनित्य होना सिद्ध है ॥ पुनः उसी अर्थ की पुष्टि करते हैं–

प्रदीपार्च्चिःसन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत्तद्ग्रहणम् ॥ ४९ ॥ (३२२)

उ०-विरोधी गुणों की सिद्धि होने से पाकजों में निषेध नहीं होसकता॥

जितने पदार्थों में पूर्व गुण के विरोधी अपर गुण की सिद्धि रहती है, उतनो में पाकज गुण देखने में आते हैं क्योंकि पूर्व गुणो के साथ पाकजन्य गुणो की स्थिति नहीं होती, परन्तु शरीर में चेतना का विरोधी दूसरा कोई गुण देखने में नहीं आता, इस लिये हम उस केभावाऽभाव की कल्पना क्यों करें। यदि चेतना शरीर का गुण होता तो वह जब तक शरीर है तब तक उस में रहती, परन्तु ऐसा नहीं है, इस लिये चेतना शरीर का गुण नहीं॥

अब प्रकृत अर्थ की पुष्टि में दूसरा हेतु देते हैं।—

शरीरव्यापित्वात् ॥ ५४ ॥ (३२७)

उ०-शरीरव्यापी होने से (चेतना शरीर का गुण नहीं)॥

शरीर और शरीर के सब अवयव चेतना से व्याप्त हैं, कहीं पर भी चेतना का अभाव नहीं इस दशा में शरीर के समान शरीर के सब अवयव भी चेतन मानने पड़ेगे, तो अनेक चेतन होजायंगे, तब जैसे प्रतिशरीर में अनेक चेतनों के होने पर सुख दुःख की व्यवस्था भिन्न२ है, ऐसे ही एक शरीर मे भी होनी चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता अर्थात् एक शरीर में सुख दुःख की व्यवस्था भिन्न २ प्रकार की नहीं देखी जाती किन्तु एक ही प्रकार की देखी जाती है, इस लिये चेतना शरीर का गुण नहीं है॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:—

केशनखादिष्वनुपलब्धेः ॥ ५५ ॥ (३२८)

पू०-केश और नख आदि में (चेतना की) उपलब्धि न होने से (उक्त कथन ठीक नहीं)॥

केश और नख आदि में चेतनता का अभाव है इस लिये यह कथन कि शरीर के सब अवयव चेतनता से व्याप्त हैं,ठीक नहीं॥ अब इस का उत्तर देते हैं·—

त्वक्पर्यन्तत्वाच्छरीरस्य केशनखादिष्वप्रसङ्गः ॥ ५६ ॥ (३२९)

उ०-शरीर के त्वचा पर्यन्त होने से केश नख आदि में (चेतनता की) प्रसक्ति नहीं होती॥

चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थों का आश्रय तथा जीव के सुख दुःख संवेदन का आयतन जो शरीर है, उस की सीमा त्वचा पर्यन्त है, केश नखादि उस से बाहर हैं, इस लिये उन में चेतनता न होने से उस के शरीरव्यापित्व में कोई दोष नहीं आता॥ इसी अर्थ की पुष्टि में अब दूसरा हेतु देते हैं।—

शरीरगुणवैधर्म्यात् ॥ ५७ ॥ (३३०)

उ० शरीर गुणों के साथ वैधर्म्य होने से (चेतनता शरीर का गुण नहीं)

शरीर के गुण दो प्रकार देखने में आते हैं, एक प्रत्यक्ष-जैसे रूपादि दूसरे अप्रत्यक्ष-जैसे गुरुत्वादि, चेतना इन दोनों से विलक्षण है, मन का विषय होने से इन्द्रियग्राह्य नहीं और ज्ञान का विषय होने से अप्रत्यक्ष भी नहीं। इस लिये शरीर के गुणों से विलक्षण होने के कारण चेतना शरीर का गुण नहीं ॥ अब पुनः शङ्का करते हैं:-

न, रूपादीनामितरेतरवैधर्म्यात् ॥ ५८ ॥ (३३१)

पू० रूपादिकों के परस्पर वैधर्म्य होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं। जैसे शरीर से वैधर्म्य रखते हुवे रूपादि शरीर के गुण माने जाते हैं ऐसे ही रूपादि से विलक्षण चेतना शरीर का गुण क्यों नहीं? अब इस शङ्का का समाधान करते हैं:-

ऐन्द्रियकत्वाद्रूपादीनामप्रतिषेधः ॥ ५९ ॥ (३३२)

उ०-इन्द्रियग्राह्य होने से रूपादिकों के शारीरिक गुण होने का निषेध नहीं हो सकता ॥

जैसे परस्परविरुद्ध धर्म वाले रूप और इन्द्रिय द्वैविध्य (द्वैतभाव) नहीं छोड़ते ऐसे ही चेतनता भी यदि शरीर का गुण होती तो द्वैविध्य न छोड़ती परन्तु छोड़ती है, अर्थात् चेतनता किसी इन्द्रिय से ग्रहण नहीं की जाती इस लिये यह शरीर का गुण नहीं। अब यहां पर यह शङ्का होती है कि जब यह सिद्ध कर चुके कि ज्ञान-बुद्धि इन्द्रियों और मन का गुण नहीं है, तब इस प्रकरण की क्या आवश्यकता थी कि चेतनता शरीर का गुण है वा नहीं? क्योंकि यह बात तो स्वयमेव सिद्ध हो गई। इस का उत्तर यह कि जिस बात की कई प्रकार से परीक्षा की जाती है, वह सुनिश्चित होता है और फिर उस में कोई सन्देह नहीं रहता ॥

बुद्धि की परीक्षा हो चुकी, अब मन की परीक्षा की जाती है। यहां यह विचार किया जाता है कि मन प्रति शरीर में एक है वा अनेक?

ज्ञानाऽयौगपद्यादेकं मनः ॥ ६० ॥ (३३३)

उ०-एक काल में अनेक ज्ञान न होने से मन एक है ॥

एक इन्द्रिय एक समय में एक ही ज्ञान उत्पन्न कर सकता है, यदि एक शरीर में बहुत से मन होते तो उन का सब इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होने

से एक काल मे अनेक ज्ञान उत्पन्न होते, परन्तु ऐसा नही होता, इस लिये मन एक ही है ॥ अब इस पर शङ्का करते है :—

न, युगपदनेकक्रियोपलब्धेः ॥ ६१ ॥ (३३४)

पू०-एक समय में अनेक क्रियाओं की उपलब्धि होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं।

एक पढने वाला पढ़ता, चलता, मार्ग को देखता, वन के शब्दो को सुनता, डरता हुवा सर्प के चिन्हों को जानने की इच्छा करता है और जिस स्थान को जाना चाहता है, उस का स्मरण भी करता है। यहां क्रम के न होने से एक साथ अनेक क्रिया उत्पन्न होती हैं, इस लिये मन अनेक हैं ॥

अब इस का समाधान करते हैं —

अलातचक्रदर्शनवत्तदुपलब्धिराशुसञ्चारात् ॥ ६२ ॥ (३३५)

उ०-अलातचक्र (आतिशबाज़ी की चर्ख़ी) के देखने के समान शीघ्र चलने से उस की उपलब्धि होती है ॥

शीघ्रगामी होने से घूमते हुवे अलातचक्र का विद्यमान क्रम नहीं जाना जाता, केवल एक घूमता हुवा चक्र सा जान पड़ता है। ऐसे ही बुद्धि और क्रियाओं के आशुगामी होने से विद्यमान भी क्रम जाना नहीं जाता, क्रम के न जान पड़ने से एक साथ क्रियायें होती हैं, ऐसा जान पड़ता है। अब यहां पर यह शङ्का होती है कि क्रम के न जानने से एक साथ अनेक क्रियाओं का भान होता है वा वस्तुत एक साथ अनेक क्रियाओं का ग्रहण होने से ही ऐसा भान होता है ? इस का उत्तर पहले दे चुके हैं कि भिन्न २ इन्द्रियों से क्रमपूर्वक ही भिन्न २ इन्द्रियो का ज्ञान होता है और यह अनुभवसिद्ध होने से अखण्डनीय है ॥

इस विषय मे दूसरा दृष्टान्त वर्ण, पद और वाक्य का भी है। पहिले क्रमपूर्वक वर्णों का उच्चारण होता है, जिस से सार्थक पद बनते हैं। फिर क्रमश पदों के जोड़ने से वाक्य बनता है, जिस से श्रोता को उस के अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। यद्यपि ये सब काम क्रमपूर्वक होते हैं तथापि शीघ्रता के कारण क्रम पर ध्यान नहीं दिया जाता ॥

अब मन का अणु होना सिद्ध करते है.—

यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु ॥ ६३ ॥ (३३६)

उ०-उक्त हेतु से (मन) अणु भी है ॥

शरीरगुणवैधर्म्यात् ॥ ५७ ॥ (३३०)

उ० शरीर गुणों के साथ वैधर्म्य होने से (चेतनता शरीर का गुण नहीं) शरीर के गुण दो प्रकार देखने में आते हैं, एक प्रत्यक्ष–जैसे रूपादि दूसरे अप्रत्यक्ष–जैसे गुरुत्वादि, चेतना इन दोनों से विलक्षण है, मन का विषय होने से इन्द्रियग्राह्य नहीं और ज्ञान का विषय होने से अप्रत्यक्ष भी नहीं। इस लिये शरीर के गुणों से विलक्षण होने के कारण चेतना शरीर का गुण नहीं ॥ अब पुनः शङ्का करते हैं:–

न, रूपादीनामितरेतरवैधर्म्यात् ॥ ५८ ॥ (३३१)

पू० रूपादिकों के परस्पर वैधर्म्य होने से (यह कथन) ठीक नहीं। जैसे शरीर से वैधर्म्य रखते हुये रूपादि शरीर के गुण माने जाते हैं ऐसे ही रूपादि से विलक्षण चेतना शरीर का गुण क्यों नहीं? अब इ शङ्का का समाधान करते हैं:–

ऐन्द्रियकत्वाद्रूपादीनामप्रतिषेधः ॥ ५९ ॥ (३३२)

उ०-इन्द्रियग्राह्य होने से रूपादिकों के शारीरिक गुण होने का निषे नहीं हो सकता ॥

जैसे परस्परविरुद्ध धर्म वाले रूप और इन्द्रिय द्वैविध्य (द्वैतभाव) नहीं छोड़ते ऐसे ही चेतनता भी यदि शरीर का गुण होती तो द्वैविध्य न छोड़ती परन्तु छोड़ती है, अर्थात् चेतनता किसी इन्द्रिय से ग्रहण न की जाती इस लिये यह शरीर का गुण नहीं। अब यहां पर यह शङ्का हो है कि जब यह सिद्ध कर चुके कि ज्ञान-भूतों, इन्द्रियों और मन का गुण न है, तब इस प्रसङ्ग की क्या आवश्यकता थी कि चेतनता शरीर का गुण है नहीं? क्योंकि यह बात तो स्वयमेव सिद्ध हो गई। इस का उत्तर य कि जिस बात की कई प्रकार से परीक्षा की जाती है, वह सुनिश्चित होता है और फिर उस में कोई सन्देह नहीं रहता ॥

बुद्धि की परीक्षा हो चुकी, अब मन की परीक्षा की जाती है। प यह विचार किया जाता है कि मन प्रति शरीर में एक है या अनेक?

ज्ञानाऽयौगपद्यादेकं मनः ॥ ६० ॥ (३३३)

उ०-एक काल में अनेक ज्ञान न होने से मन एक है ॥

एक इन्द्रिय एक समय में एक ही ज्ञान उत्पन्न करा सकता है, यदि शरीर में बहुत से मन होते तो उन का सब इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध।

नोत्पत्तिनिमित्तत्वान्मातापित्रोः ॥ ६७ ॥ (३४०)

तथाहारस्य ॥ ६८ ॥ (३४१)

पू०-माता, पिता तथा आहार के उत्पत्ति निमित्त होने से (कर्मनिमित्त) नहीं है॥

शरीर की उत्पत्ति माता पिता के रज, वीर्य एवं आहार से होती है, जिस को सब जानते और मानते है, फिर इन प्रसिद्ध और अनुभवसिद्ध कारणो को छोड कर अदृष्ट कर्म को निमित्त मानने मे कोई कारण नहीं दीखता ॥ अब इस का उत्तर देते हैं —

प्राप्तौ चानियमात् ॥ ६९ ॥ (३४२)

उ०-प्राप्ति में नियम न होने से (उक्त कथन ठीक नहीं) ॥

यदि कर्म की उपेक्षापूर्वक माता पिता और आहारादि शरीर का कारण होते तो सर्वदा और सर्वत्र स्त्री पुरुषों का संयोग गर्भाधान का कारण होता, परन्तु ऐसा नहीं होता, इस से सिद्ध है कि प्रारब्ध कर्मानुसार ही रज वीर्य गर्भ में परिणत होते हैं तथा परिपक्व आहार उस की वृद्धि का कारण होता है ॥ पुन इसी की पुष्टि करते हैं:—

शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्म॥७०॥ (३४३)

उ०-जैसे शरीर की उत्पत्ति का निमित्त कर्म है वैसे ही (आत्मा और शरीर के) संयोग की उत्पत्ति का निमित्त (भी) कर्म है ॥

पुन इसी की पुष्टि करते हैं. —

एतेनाऽनियमः प्रत्युक्तः ॥ ७१ ॥ (३४४)

उ०-इस से अनियम का खण्डन किया गया ॥

शरीर की रचना में कर्म को निमित्त न मानने से जो अव्यवस्था उत्पन्न हुई थी, उस का पूर्व सूत्र से खण्डन हो गया। वह क्या अव्यवस्था थी? कोई उत्तम कुल में जन्म लेता, कोई नीच कुल में, किसी का देह उत्तम, किसी का निकृष्ट, कोई रोगी, कोई नीरोग, कोई सर्वाङ्गसम्पन्न, कोई विकलाङ्ग [अङ्गहीन], कोई दु खी, कोई सुखी, कोई स्वस्थेन्द्रिय, कोई निर्बलेन्द्रिय, कोई पुरुष, कोई नपुंसक, और कोई स्त्री इत्यादि और भी अनेक सूक्ष्म भेद हैं जो समझ में नही आते। ये सब अवस्थाभेद प्रत्येक आत्मा के नियत कर्मों के भेद से सिद्ध होते है, कर्मभेद के अभाव मे सब आत्माओं के तुल्य

एक समय में अनेक ज्ञानों के न होने रूप हेतु से ही मन का अणु होना भी सिद्ध होता है क्योंकि यदि मन व्यापक होता तो सब इन्द्रियों के साथ उस का संयोग होने से एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न हो जाते पर ऐसा नहीं होता, इस से मन का अणुत्व भी सिद्ध है ॥

मन की परीक्षा हो चुकी, अब इस बात का विवेचन किया जाता है कि शरीर की उत्पत्ति जीवों के कर्माधीन है? अथवा स्वतन्त्र पञ्चभूतों से होती है?

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ॥ ६४ ॥ (३३७)

उ०-पूर्व (शरीर में) किये (कर्मों के) फलों के अनुबन्ध [लगाव] से उस (शरीर) की उत्पत्ति होती है ॥

पूर्वजन्म में जो कर्म किये हैं उन के फलरूप जो धर्माधर्म के संस्कार हैं उन से प्रेरित हुए पञ्चभूतों से शरीर की उत्पत्ति होती है न कि स्वतन्त्र भूतों से । जिस अधिष्ठान में यह आत्मा अहङ्कार से युक्त हुआ भोगों की तृष्णा से विषयों को भोगता हुआ धर्माऽधर्म का सम्पादन करता है, वह उस का शरीर है । धर्माऽधर्म के संस्कारों से युक्त इस भौतिक शरीर के नष्ट होने पर दूसरा शरीर बनता है और बने हुवे इस शरीर की पूर्व शरीर के समान पुरुषार्थ क्रिया और पुरुष की प्रवृत्ति होती है, यह बात कर्मापेक्ष भूतों से ही शरीर की उत्पत्ति मानने से सिद्ध हो सकती है, अन्यथा नहीं। अब इस पर नास्तिक शङ्का करता है।—

भूतेभ्यो मूर्त्युपादानवत्तदुपादानम् ॥ ६५ ॥ (३३८)

पू० भूतों से मूर्त्ति की उत्पत्ति के समान उस की (शरीर की भी) उत्पत्ति (माननी चाहिये) ॥

जैसे कर्मनिरपेक्ष भूतों से रेत कङ्कर, पत्थर और गेरू आदि पदार्थ बनते हैं, वैसे ही शरीर भी उन से बन सकता है ॥ अब इस का उत्तर देते हैं:

न, साध्यसमत्वात् ॥ ६६ ॥ (३३९)

उ० साध्यसम होने से (उक्त दृष्टान्त) युक्त नहीं है ॥

जैसे कर्मनिरपेक्ष शरीरोत्पत्ति साध्य है, ऐसे ही कर्मनिरपेक्ष बालू कङ्कर आदि पदार्थों की भी उत्पत्ति साध्य है, अतएव साध्यसम (हेत्वाभास) होने से उक्त दृष्टान्त अयुक्त है ॥ पुनः शङ्का करते हैं:—

यदि कर्मनिरपेक्ष भूतों से शरीर की उत्पत्ति मानोगे तो फिर किस के नाश से शरीर का पतन होगा ? और उस (मरण) के अभाव से शरीर को नित्यत्व का प्रसङ्ग होगा ॥ अब इस पर शङ्का करते हैं—

अणुश्यामतानित्यत्ववदेतत्स्यात् ॥ ७७ ॥ (३५०)

पू०-जैसे परमाणुओं की श्यामता नित्य है वैसे ही यह भी हो जायगा ॥

जैसे परमाणुओंकी श्यामता (जो नित्य है) अग्निसंयोग से निवृत्त हुई पुन: उत्पन्न नहीं होती, ऐसे ही स्वतन्त्र पञ्चभूतोत्पन्न शरीर मुक्ति में पुनः उत्पन्न न होगा ॥ अब इस का समाधान करते हैं -

नाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् ॥ ७८ ॥ (३५१)

उ०-अकृताभ्यागम के प्रसङ्ग होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं ॥

परमाणुओं की श्यामता के दृष्टान्तसे कर्मानपेक्ष शरीरकी उत्पत्ति मानने में अकृताभ्यागम दोष आता है अर्थात् सुख दु ख के हेतु कर्मों के किये विना ही पुरुष को सुख और दु ख भोगने पड़तेहैं. यह बात प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र के विरुद्ध है । पहिले प्रत्यक्ष का विरोध दिखलाते है-प्रत्यात्म वेदनीय होने से सुख दु ख भिन्न २ हैं अर्थात् प्रत्येक प्राणी के लिये सुख दु ख की व्यवस्था एक जैसी नहीं है, तब कर्म रूप हेतु के अभाव में प्रत्येक आत्मा के लिये नियत सुख और दुःख का कारण क्या है ? कारणभेद न होने पर भी कार्यभेद क्यों दीखता है ? दूसरे अनुमान का विरोध यह है कि जीवो को यहां बिना यत्न के जो सुख दु ख होते है, उन का कोई कारण अवश्य होना चाहिये और दृष्टकारण कोई देखने में नहीं आता, तब पूर्वजन्मकृत कर्मों के अतिरिक्त और क्या कारण होसकता है ? कर्म को हेतु न मानने से इस अनुमान का विरोध आता है। अब रहा तीसरा आगम का विरोध, वह यह है कि वेद और अनेक महात्मा ऋषियों ने कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का उपदेश किया है, जिस के अनुसार मनुष्य वर्णाश्रम के विभाग से अपने कर्त्तव्य में प्रवृत्त और अकर्त्तव्य से निवृत्त होते हैं, यह बात शरीरोत्पत्ति में कर्म को निमित्त न मानने से सिद्ध नहीं होती । इस लिये प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम का विरोध होने से कर्मानपेक्ष सृष्टि की कल्पना मिथ्या है ॥

इति न्यायदर्शनभाष्ये तृतीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

समाप्तश्चायं तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

होने से तथा पञ्चभूतों के नियामक न होने से सब आत्माओं के एक जैसे शरीर होने चाहिये थे पर नहीं हैं। इसलिये शरीर की उत्पत्ति में कर्म निमित्त है॥

इसी पर और पुष्टि करते हैं—

उपपन्नश्च तद्वियोगः कर्मक्षयोपपत्तेः ॥ ७२ ॥ (३९५)

उ०-कर्मक्षय की उपपत्ति होने से उस का [आत्मा का शरीर से] वियोग सिद्ध है॥

कर्मापेक्ष शरीर की उत्पत्ति मानने से ही कर्म के नाश होने पर शरीर के साथ आत्मा का वियोग भी सिद्ध होता है और जो शरीर की उत्पत्ति में कर्म को निमित्त न मानोगे तो पञ्चभूतों के नाश न होने से शरीर और आत्मा का वियोग कभी न होगा॥ अन्य शङ्का करते हैं:—

तददृष्टकारितमिति चेत्पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे ॥ ७३ ॥ (३९६)

पू०-यदि उस को अदृष्ट (प्रारब्ध) कारित (मानते) तो फिर मोक्ष में भी उस (शरीर) प्रसङ्ग होगा॥

यदि भूतों से शरीर की उत्पत्ति को अदृष्टकारित न मोगे अर्थात् प्रारब्ध कर्म को ही शरीरोत्पत्ति का निमित्त मानोगे तो मुक्ति में भी इस (शरीर प्राप्ति) की प्रसक्ति होगी॥ अब इस का उत्तर देते हैं:—

न, करणाकरणयोरारम्भदर्शनात् ॥ ७४ ॥ (३९७)

उ०-करण और अकरण के आरम्भ देखने से (उक्त कथन ठीक नहीं॥

करने और न करने के आरम्भ को देखते हैं कि आत्मा कर्म करता और नहीं भी करता। अब ज्ञान होजाने पर कर्म का त्याग मुक्ति में शरीर नहीं होने देगा॥ और—

मनःकर्मनिमित्तत्वाच्च संयोगानुच्छेदः ॥ ७५ ॥ (३९८)

उ०-मनः कर्म के निमित्त मानने से संयोग का अनुच्छेद होगा॥

यदि अपने मत से मन को ही शरीरोत्पत्ति निमित्त मानोगे तो संयोग का नाश न होगा क्योंकि जो मन शरीर और आत्मा के संयोग में हेतु है, वही वियोग का भी कारण हो, यह सर्वथा अनुपपन्न है॥ तथा—

नित्यत्वप्रसङ्गश्च प्रायणानुपपत्तेः ॥ ७६ ॥ (३९९)

उ०-मरण की अनुपपत्ति होने से नित्यत्व की प्रसक्ति होगी॥

वर्णों का एक अग्निसंयोग विरोधी है पर वे सब भिन्न २ हैं, इसी प्रकार राग आदि भी एकविरोधी होने से परस्पर भिन्न रह सकते हैं ॥

अब उन तीनों समूहों में मोह का प्राधान्य दिखलाते हैं —

तेषां मोहः पापीयान्नामूढस्येतरोत्पत्तेः ॥ ६ ॥ (३५७)

उ०- उन में मोह बड़ा पापी है (क्योंकि) जिस को मोह नहीं, उस को इतर (राग द्वेष) नहीं होते ॥

यद्यपि " द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ ५ । ३ । ५७ " इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार दो मे से एक के निर्धारण में ' तरप् ' और ' ईयसुन् ' प्रत्यय होते हैं, यहां ' तेषाम् ' बहुवचन में ' ईयसुन् ' किया गया है, इस का कारण यह है कि सूत्रकार ने राग और मोह मे तथा द्वेष और मोह में, ऐसा विभाग मानकर ईयसुन् प्रत्ययान्त 'पापीयान्' शब्द का प्रयोग किया है । विषयों मे रञ्जनीय सङ्कल्प राग के कारण और कोपनीय सङ्कल्प द्वेष के कारण उत्पन्न होते है, दोनों प्रकार के सङ्कल्प मिथ्याप्रतिपत्ति रूप होने से मोहजन्य है, अत मोह ही रागद्वेष का भी कारण है, तत्त्वज्ञान से मोह की निवृत्ति होने पर रागद्वेष उत्पन्न ही नहीं होते, अतएव इन तीनों में मोह ही प्रधान है ॥ अब शङ्का करते है -

प्राप्तस्तर्हि निमित्तनैमित्तिकभावादर्थान्तर-भावो दोषेभ्य. ॥ ७ ॥ (३५८)

पू०-तो फिर कार्यकारण भाव होने से दोषों से भिन्नता प्राप्त होगी ॥

कारण से कार्य भिन्न होता है, जब कि मोह-रागादि दोषों का कारण है तो फिर वह आप दोष नहीं हो सकता ॥ अब इस का समाधान करते हैं.-

न, दोषलक्षणावरोधान्मोहस्य ॥ ८ ॥ (३५९)

उ०-मोह के दोषलक्षणों में अवरुद्ध होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं ॥

" प्रवर्त्तनालक्षणा दोषा " इस सूत्र के अनुसार दोष का लक्षण प्रवृत्तिजनकत्व है सो इस लक्षण से मोह भी लक्षित है, फिर वह दोष क्यों नहीं ?

अब कार्यकारण भाव का उत्तर देते हैं —

निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेश्च तुल्यजातीयानामप्रतिषेधः ॥ ९ ॥ (३६०)

अथ चतुर्थाध्याये प्रथममाह्निकम्

तीसरे अध्याय में कारण रूप आत्मादि ६ प्रमेयों की परीक्षा की गई अब चौथे अध्याय में कार्यरूप प्रवृत्त्यादि शेष ६ प्रमेयों की परीक्षा की जाती है। प्रथम प्रवृत्ति और दोष की परीक्षा करते हैं:—

प्रवृत्तिर्यथोक्ता ॥ १ ॥ (३५२) तथा दोषा ॥ २ ॥ (३५३)

जैसे प्रवृत्ति का निरूपण कर चुके हैं वैसे ही दोषों का भी निरूपण किया जा चुका है॥

पहिले अध्याय के १७ वें और १८ वें सूत्र में प्रवृत्ति और दोषों का वर्णन कर चुके हैं, वहीं पर इन की सामान्य परीक्षा भी हो चुकी है, इस लिये यहां उपेक्षा कीगई॥ अब दोषों के भेद कहते हैं:—

तत्त्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात् ॥ ३ ॥ (३५४)

उन (दोषों) के अवान्तर भेद वाले होने से राग, द्वेष और मोह ये तीन राशि (समूह) हैं॥

काम, मत्सर स्पृहा तृष्णा और लोभ ये राग के अन्तर्गत हैं, क्रोध ईर्ष्या असूया, द्रोह और अमर्ष ये द्वेष के अन्तर्गत हैं और मिथ्याज्ञान, संशय मान और प्रमाद ये मोह के अन्तर्गत हैं। इन में से राग प्रवृत्ति मूलक है, द्वेष क्रोधजनक है और मोह मिथ्याज्ञानोत्पादक है॥

अब इस पर शङ्का करते हैं—

नैकप्रत्यनीकभावात् ॥ ४ ॥ (३५५)

पू०-एक के विरोधी होने से (रागादि भिन्न) नहीं हैं॥

एक तत्त्वज्ञान राग द्वेष और मोह इन सब का विरोधी है अर्थात् तत्त्वज्ञान के होते ही ये सब नष्ट होजाते हैं इस लिये इन के तीन भेद ठीक नहीं क्योंकि यदि तीन भेद माने जावें तो फिर इन के प्रतिद्वन्द्वी भी तीन ही होने चाहियें, जो कि प्रतिद्वन्द्वी इन का एक तत्त्वज्ञान है, इस लिये इन में भी एकत्व होना चाहिये॥ अब समाधान करते हैं:—

व्यभिचारादहेतु ॥ ५ ॥ (३५६)

उ०-व्यभिचार होने से (उक्त हेतु) अहेतु है॥

उक्त हेतु में व्यभिचार आता है क्योंकि श्याम, हरित और पीत आदि

वर्णों का एक अग्निसंयोग विरोधी है पर वे सब भिन्न २ हैं, इसी प्रकार राग आदि भी एकविरोधी होने से परस्पर भिन्न रह सकते हैं ॥

अब उन तीनो समूहों से मोह का प्राधान्य दिखलाते हैः—

तेषां मोहः पापीयान्नामूढस्येतरोत्पत्तेः ॥ ६ ॥ (३५७)

उ०- उन में मोह बड़ा पापी है (क्योंकि) जिस को मोह नहीं, उस को इतर (राग द्वेष) नहीं होते ॥

यद्यपि " द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ ५ । ३ । ५७ " इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार दो मे से एक के निर्धारण मे 'तरप्' और 'ईयसुन्' प्रत्यय होते हैं, यहां 'तेषाम्' बहुवचन में 'ईयसुन्' किया गया है, इस का कारण यह है कि सूत्रकार ने राग और मोह मे तथा द्वेष और मोह में, ऐसा विभाग मानकर ईयसुन् प्रत्ययान्त 'पापीयान्' शब्द का प्रयोग किया है । विषयो से रञ्जनीय सङ्कल्प राग के कारण और कोपनीय सङ्कल्प द्वेष के कारण उत्पन्न होते हैं, दोनो प्रकार के सङ्कल्प मिथ्याप्रतिपत्ति रूप होने से मोहजन्य है, अत मोह ही रागद्वेष का भी कारण है, तत्वज्ञान से मोह की निवृत्ति होने पर रागद्वेष उत्पन्न ही नहीं होते, अतएव इन तीनो में मोह ही-प्रधान है ॥ अब शङ्का करते है –

प्राप्तस्तर्हि निमित्तनैमित्तिकभावादर्थान्तर-
भावो दोषेभ्य. ॥ ७ ॥ (३५८)

पू०-तो फिर कार्यकारण भाव होने से दोषो से भिन्नता प्राप्त होगी ॥

कारण से कार्य भिन्न होता है, जब कि मोह–रागादि दोषो का कारण है तो फिर वह आप दोष नहीं हो सकता ॥ अब इस का समाधान करते हैं·–

न, दोषलक्षणावरोधान्मोहस्य ॥ ८ ॥ (३५९)

उ०-मोह के दोषलक्षणो में अवरुद्ध होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं ॥

" प्रवर्त्तनालक्षणा दोषा· " इस सूत्र के अनुसार दोष का लक्षण प्रवृत्ति जनकत्व है सो इस लक्षण से मोह भी लक्षित है, फिर वह दोष क्यो नहीं ?

अब कार्यकारण भाव का उत्तर देते हैं —

निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेश्च तुल्यजातीयाना-
मप्रतिषेधः ॥ ९ ॥ (३६०)

उ०-तुल्यजातीय द्रव्यों में कार्यकारणभाव की उपपत्ति होने से (कार्यकारणभाव) बाधक नहीं हो सकता ॥

समानजातीय द्रव्य और गुणों का अनेक प्रकार से कार्य कारणभाव देखने में आता है अर्थात् कोई किसी का कारण होता है और कोई किसी का कार्य। जैसे जल पृथिवी का कारण है और तेज का कार्य परन्तु इस कार्यकारणभाव के होने से इन के द्रव्यत्व समानजातीयत्व धर्म में कोई बाधा नहीं पड़ती। ऐसे ही मोह के रागद्वेष का कारण होने पर भी इस के दोषत्व में कुछ हानि नहीं पड़ सकती ॥

अब नवम प्रमेय प्रेत्यभाव की परीक्षा की जाती है:—

आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः ॥ १० ॥ (३६१)

आत्मा के नित्य होने पर "प्रेत्यभाव" की सिद्धि होती है ॥

पुनः उत्पत्ति का नाम प्रेत्यभाव है सो वह आत्मा के नित्य होने पर ही सिद्ध हो सकता है अन्यथा नहीं, क्योंकि नित्य आत्मा पूर्वशरीर को छोड़कर दूसरे शरीर का ग्रहण करता है, यह बिना आत्मा के नित्यत्व के हो नहीं सकता। जो केवल शरीर की उत्पत्ति और उस के नाश ही को प्रेत्यभाव मानते हैं, उन के मत में कृतहान और अकृताभ्यागम दोष आता है और ऋषियों के उपदेश भी निरर्थक होते हैं। अब उत्पत्ति का प्रकार दिखलाते हैं:-

व्यक्ताद्व्यक्तानां प्रत्यक्षप्रामाण्यात् ॥ ११ ॥ (३६२)

व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति होती है प्रत्यक्ष प्रमाण होने से ॥

रूपादिगुणयुक्त इन्द्रियग्राह्य पृथिव्यादि कारणों से वैसे ही शरीरादि कार्य उत्पन्न होते हैं, इस में प्रत्यक्ष प्रमाण है जैसे रूपादि गुणयुक्त मृत्तिकादि द्रव्यों से वैसे ही घटादि पदार्थों की उत्पत्ति देखने में आती है, इस से अदृष्ट में भी यही अनुमान होता है कि व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति होती है ॥

अब इस पर शङ्का करते हैं:-

न, घटाद् घटानिष्पत्तेः ॥ १२ ॥ (३६३)

पू०-घट से घट की उत्पत्ति न होने के कारण (यह कथन) ठीक नहीं ॥

घट से घट की उत्पत्ति नहीं होती यह भी प्रत्यक्षसिद्ध है, अतएव व्यक्त का कारण व्यक्त नहीं। अब इस का समाधान करते हैं:—

व्यक्ताद् घटनिष्पत्तेरप्रतिषेधः ॥ १३ ॥ (३६४)

उ०-व्यक्त से घट की उत्पत्ति का निषेध नहीं हो सकता ॥

हम यह नहीं कहते कि सर्वत्र व्यक्त ही व्यक्त का कारण है किन्तु हमारा कथन यह है कि जो व्यक्त कार्य उत्पन्न होता है वह " कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः " इस काणाद सिद्धान्त के अनुसार वैसे ही कारण से उत्पन्न होता है। मृत्तिका, जिस से घट बनता है, व्यक्त है, इस को कोई छिपा नहीं सकता ॥ इस के अनन्तर प्रतिवादियों के विचार दिखलाये जाते हैं:—

अभावाद्भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् ॥१४॥ (३६५)

पू०-अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है (बीज का) नाश हुवे विना (अङ्कुर की) उत्पत्ति न होने से ॥

जब तक बीज गल कर नष्ट नहीं हो जाता तब तक उस में से अङ्कुर नहीं निकलता इस से सिद्ध है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है ॥

अब इस का उत्तर देते हैं:—

व्याघातादप्रयोगः ॥ १५ ॥ (३६६)

उ०-व्याघात होने से (उक्त कथन) अयुक्त है ॥

जो उपमर्दन करता है वह स्वयं उपमर्दित होकर प्रकट नहीं होसकता क्योंकि पहिले ही विद्यमान है और जो प्रकट होता है वह उपमर्दक नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकट होने के पूर्व वह विद्यमान ही नहीं ॥

अब इस में पूर्वपक्षी दूषण देता है:—

नातीतानागतयोः कारकशब्दप्रयोगात् ॥ १६ ॥ (३६७)

पू०-अतीत और अनागत मे कारकशब्द का प्रयोग होने से (उक्त पक्ष) नहीं ॥

अतीत और अनागत अर्थात् अविद्यमान में भी कारक शब्द का प्रयोग किया जाता है । जैसे पुत्र उत्पन्न होगा, उत्पन्न होने वाले पुत्र का हर्ष करता है, घट था, टूटे हुवे घट का शोक करता है । इत्यादि बहुधा प्रयोग देखने में आते हैं। इसी प्रकार प्रकट होने वाला अङ्कुर उपमर्दन करता है, इस लिये हमारे पक्ष में उक्त दोष नहीं आसकता ॥ अब इस का उत्तर देते हैं:—

न, विनष्टेभ्योऽनिष्पत्तेः ॥ १७ ॥ (३६८)

उ०-नष्ट (बीजादि) से (अङ्कुरादि की) उत्पत्ति न होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं ॥

नष्ट बीज से अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता, इस लिये अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होसकती, इस लिये अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती॥

पुनः-इसी की पुष्टि करते हैं:-

क्रमनिर्देशादप्रतिषेधः ॥ १८ ॥ (३६९)

उ०-क्रम के निर्देश से निषेध नहीं हो सकता ॥

उपमर्द और प्रादुर्भाव का जो पौर्वापर्य नियम है, वह क्रम कहलाता है, अङ्कुरोत्पत्ति में वही हेतु है अर्थात् पहिले बीज जब गल जाता है तब उस से अङ्कुर उत्पन्न होता है बीज गलने से नष्ट नहीं होजाता किन्तु उस की रचना विशेष में कुछ परिणाम होकर अङ्कुरोत्पत्ति करने में समर्थ होजाता है। यदि नष्ट बीज अङ्कुरोत्पत्ति करने में समर्थ होता तो जला हुआ या पिसा हुआ बीज भी अङ्कुरोत्पत्ति कर सकता, परन्तु ऐसा नहीं होता, इस से सिद्ध है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती और बीज के अवयवों से भिन्न अङ्कुर की उत्पत्ति में और कोई कारण नहीं इस लिये बीज ही अङ्कुर का उपादान कारण है ॥ एक और प्रतिवादी कहता है:-

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ॥ १९ ॥ (३७०)

पू०-पुरुष के कर्मों का वैफल्य देखने से ईश्वर (ही जगत् का) कारण है।

पुरुष इच्छा करता हुआ उद्योग करता है परन्तु अपनी इच्छानुसार फल नहीं पाता इस से अनुमान होता है कि पुरुषार्थ का फल पराधीन है, जिस के अधीन है वह ईश्वर है, इस लिये ईश्वर ही शरीरोत्पत्ति का भी कारण है ॥ दूसरा कहता है:-

न, पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः ॥ २० ॥ (३७१)

पुरुष के कर्म के अभाव में फल की निष्पत्ति न होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं ॥

जो फल की निष्पत्ति ईश्वर के ही अधीन होती तो बिना पुरुषार्थ के भी कार्यसिद्धि होजाती पर बिना उद्योग के कोई कार्य सिद्ध नहीं होता, इस लिये उक्त पक्ष ठीक नहीं ॥ अब सूत्रकार अपना मत कहते हैं:—

तत्कारितत्वादहेतुः ॥ २१ ॥ (३७२)

ईश्वरकारित होने से (उक्त हेतु) अहेतु है ॥

कर्म के द्वारा जो पुरुष को फल मिलता है वह ईश्वरकारित है अर्थात् विना ईश्वर की प्रेरणा वा योजना के कर्म जड़ होने से स्वयं फलनिष्पत्ति में असमर्थ है, इस से यह सिद्ध होता है कि विना कर्म के न तो ईश्वर ही किसी को फल देता है क्योंकि वह नियामक और न्यायकारी है और न विना ईश्वर के कर्म ही किसी को फल देने में समर्थ हो सकता है क्योंकि वह जड़ है, और चेतन के अधीन है। जैसे बीज विना कृषक के और कृषक विना बीज के फलोत्पत्ति करने में असमर्थ है, ऐसे ही ईश्वर और कर्म ये दोनों फलनिष्पत्ति में सापेक्ष है ।। अब तीसरा कहता है -

अनिमित्ततो भावोत्पत्तिःकण्टकतैक्ष्ण्यादि दर्शनात् ॥ २२ ॥ (३७३)

पू०-अनिमित्त से भावों की उत्पत्ति होती है कण्टकादि में तीक्ष्णता आदि के देखने से ॥

कांटे का तीखापन, पहाड़ी धातुओं की विचित्रता और पत्थरों का चिकनापन स्वभाव से ही विना किसी निमित्त के दीख पड़ता है, इस से सिद्ध है कि विना निमित्त के पदार्थों की उत्पत्ति होती है ॥

आगे इस का खण्डन करते हैं:—

अनिमित्तनिमित्तत्वान्नाऽनिमित्ततः ॥ २३ ॥ (३७४)

पू०-अनिमित्त के निमित्त होने से अनिमित्त से (उत्पत्ति)नहीं होती ॥

जिस से जो उत्पन्न होता है वह उस का निमित्त कहलाता है, जब तुम्हारे कथनानुसार अनिमित्त से भाव की उत्पत्ति होती है-तो वही उस का निमित्त हुआ, फिर अनिमित्तक उत्पत्ति कहां रही ? अब सूत्रकार अपना मत कहते हैं:-

निमित्ताऽनिमित्तयोरर्थान्तरभावादप्रतिषेधः ॥२४॥ (३७५)

उ०-निमित्त और अनिमित्त के भिन्न२ पदार्थ होने से निषेध नहीं हो सकता।।

निमित्त और वस्तु है और अनिमित्त और। प्रत्याख्येय (खण्डनीय) और प्रत्याख्यान (खण्डन) एक नहीं होते। जैसे " अनुदक कमण्डलु "

कहने से जल का निषेध समझा जाता है, न कि "अनुदकोऽकः" जल, जल का निषेध हो सकता है, सो यह पक्ष भी अकर्मनिमित्तक शरीरादि की उत्पत्ति से भिन्न नहीं है, अतएव उस के खण्डन से ही इस का खण्डन भी समझलेना चाहिये ॥ कोई ऐसा मानते हैं:-

सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् ॥ २५ ॥ (३७६)

पू०-उत्पत्ति और नाश धर्म वाला होने से सब अनित्य है ॥

जो सदा न रहे उसे अनित्य कहते हैं। भौतिक शरीरादि और अभौतिक बुद्ध्यादि ये सब पदार्थ उत्पन्न होकर नष्ट होते हैं, इस लिये अनित्य हैं। इस पर दूषण देते हैं:—

नाऽनित्यतानित्यत्वात् ॥ २६ ॥ (३७७)

पू०-अनित्यता के नित्य होने से (उक्तपक्ष) ठीक नहीं ॥

यदि सब की अनित्यता नित्य है, तो उस की नित्यता से सब अनित्य नहीं हो सकते और जो अनित्य है तो उस के न होने से सब नित्य हैं। इस पर आक्षेप करते हैं—

तदनित्यत्वमग्नेर्दाह्यं विनाश्यानुविनाशवत् ॥ २७ ॥ (३७८)

पू०-जैसे अग्नि दाह्य का नाश करके आप भी विनष्ट हो जाता है वैसे ही उस की भी अनित्यता है ॥

उस अनित्यता की भी अनित्यता है जैसे अग्नि दाह्य इन्धनादि का नाश करके आप भी नष्ट होजाता है ऐसे ही अनित्यता सब का नाश करके आप भी नष्ट हो जायगी ॥ अब सूत्रकार अपना मत कहते हैं:-

नित्यस्याप्रत्याख्यानं यथोपलब्धिव्यवस्थानात् ॥ २८ ॥ (३७९)

उ०-नित्य का खण्डन नहीं हो सकता यथोपलब्धि के व्यवस्थान से ॥

जिस के उत्पत्ति और विनाश प्रमाण से सिद्ध हों वह अनित्य और जिस के यह दोनों प्रमाण से सिद्ध न होसकें वह अनित्य है, परन्तु सूक्ष्म भूत आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन और इन के गुण, तथा कई एक सामान्य विशेष और समवाय इनकी उत्पत्ति और विनाश प्रमाण से सिद्ध नहीं होते अतएव ये नित्य हैं ॥ एक और प्रतिवादी कहता है:-

सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात् ॥ २९ ॥ (३८०)

पू०-सब नित्य है, पञ्चभूतों के नित्य होने से ॥

कारण रूप से पञ्चभूत नित्य हैं, इस लिये उन का कार्य भी सब नित्य है ॥

अब इस का उत्तर देते हैं -

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥ ३० ॥ (३८१)

उ०-उत्पत्ति और विनाश के कारणो की उपलब्धि होने से (उक्त पक्ष) ठीक नहीं ॥

जैसे घट की उत्पत्ति और विनाश के कारण कपालसंयोग और मुद्गर-पात आदि प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं, ऐसे ही सब पदार्थों के उत्पत्ति और विनाश के कारण प्रत्यक्ष देखने में आते हैं इस लिये सब पदार्थ नित्य नहीं होसकते ॥ पुन. प्रतिवादी कहता है.-

तल्लक्षणावरोधादप्रतिषेधः ॥ ३१ ॥ (३८२)

पू०-तल्लक्षण के अवरोध होने से निषेध नहीं हो सकता ॥

जिस के उत्पत्ति और विनाश के कारण पाये जाते हैं, उस में परमाणुओं का लक्षण नहीं घटता, क्योंकि परमाणुओं का नित्य होना सर्वसम्मत है, अतः भूतलक्षण का अवरोध होने से नित्यत्व का निषेध नहीं हो सकता ॥

प्रतिवादी अपने कथन की फिर पुष्टि करता है:-

नोत्पत्तितत्कारणोपलब्धेः ॥ ३२ ॥ (३८३)

उ०-उत्पत्ति और उस के कारण की उपलब्धि होने से अनित्यत्व नहीं हो सकता ॥

उत्पत्ति और विनाश के जो कारण प्रतीत होते हैं, वे औपाधिक हैं, वास्तविक नहीं । क्योंकि प्रत्येक पदार्थ नित्य होने से उत्पत्ति के पूर्व भी विद्यमान होता है और निवृत्ति के पश्चात् भी वर्त्तमान रहता है, यदि न रहता तो उत्पत्ति और विनाश भी न रहते, अत· उत्पत्ति और विनाश के कारणों के उपलब्ध होने से नित्यता का खण्डन नहीं होता ॥

अब सूत्रकार अपना मत दिखलाते हैं.-

न, व्यवस्थानुपपत्तेः ॥ ३३ ॥ (३८४)

उ०-व्यवस्था की उपपत्ति न होने से (उक्त पक्ष) ठीक नहीं ॥

उत्पत्ति से पूर्व उत्पन्न को और निवृत्ति से पश्चात् निवृत्त को मानने

पर "यह उत्पत्ति है और यह निवृत्ति है" यह व्यवस्था सिद्ध नहीं होती और "कब उत्पत्ति हुई और कब निवृत्ति होगी" यह काल की व्यवस्था भी नहीं बनती, इस से भूत और भविष्यत् का लोप हो जायगा केवल वर्तमान ही रहेगा। इस लिये अविद्यमान को रूप विशेष की प्राप्ति उत्पत्ति और स्वरूपहानि निवृत्ति है, ऐसा मानना ही इस व्यवस्था को सुरक्षित रख सकता है, अतः उक्त पक्ष ठीक नहीं ॥ एक और प्रतिवादी कहता है:-

सर्वं पृथग्भावलक्षणपृथक्त्वात् ॥ ३४ ॥ (३८५)

पू० भावलक्षणों के पृथक् २ होने से सब (पदार्थ) पृथक् २ हैं ॥

संसार में भाव अनेक हैं उन से लक्षित कोई पदार्थ भी एक नहीं हो सकता अर्थात् सब शब्द समुदाय के वाचक हैं। जैसे "कुम्भ" यह शब्द गन्ध, रस रूप और स्पर्श इन के समुदाय तथा कपाल घट, पार्श्व, ग्रीवा आदि अनेक पदार्थों का वाचक है इस का वाच्य कोई एक अवयवी नहीं, ऐसे ही सब शब्दों को समझना चाहिये। अब इस का उत्तर देते हैं:-

नानेकलक्षणैरेकभावनिष्पत्तेः ॥ ३५ ॥ (३८६)

उ० अनेक लक्षणों से एक भाव की निष्पत्ति होने से (उक्त पक्ष) ठीक नहीं ॥

गन्धादि गुणों से और ग्रीवादि अवयवों से सम्बद्ध एक भाव उत्पन्न होता है, इस लिये अनेक लक्षणों से एक भाव की उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त द्रव्य से गुण और अवयव से अवयवी सदा भिन्न २ होते हैं ॥

पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

लक्षणव्यवस्थानादेवाप्रतिषेधः ॥ ३६ ॥ (३८७)

उ०-लक्षण की व्यवस्था से ही निषेध नहीं हो सकता ॥

भाव का लक्षण जो सत्ता है उस की अवस्थिति एक में देखी जाती है "घट जल से पूर्ण है" यह व्यवहार मिट्टी के परमाणुओं में (जिन से घट बनता है) नहीं बनसकता। अवयवी से जो बात ग्रहण की जाती है वह उस के अवयवों से नहीं हो सकती। इस से सिद्ध है कि अनेक लक्षणों से एक भाव लक्षित होता है यदि एक न मानोगे तो फिर समुदाय भी न रहेगा क्योंकि एक से ही अनेक होते हैं ॥ एक और प्रतिवादी कहता है:-

सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः ॥ ३७ ॥ (३८८)

पू०-भावो में परस्पर अभाव सिद्ध होने से सब अभाव है ॥

घट पट नहीं है और पट घट नहीं है, अश्व गौ नहीं है और गौ अश्व नहीं है। इत्यादि भावों में परस्पर अभाव देखा जाता है, इससे सब अभाव ही क्यों न मान लिया जाय ? ।। अब इस का उत्तर देते हैं:-

न, स्वभावसिद्धेर्भावानाम् ॥ ३८ ॥ (३८९)

उ०-भावो के स्वभावसिद्ध होने से (उक्त पक्ष) ठीक नहीं ॥

सम्पूर्ण भाव (पदार्थ) अपने २ भाव से वर्त्तमान है, यदि घट में पट का अभाव है तौ अपना (घट) का तौ भाव विद्यमान है, इसी प्रकार यदि अश्व जाति से गो जाति का ग्रहण नहीं होता तौ अश्व जाति का तौ होता है। बस सब पदार्थों के अपने २ भाव में वर्त्तमान होने से अभाव किसी का नहीं हो सकता ।। पुन प्रतिवादी शङ्का करता है:-

न, स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात् ॥ ३९ ॥ (३९०)

पू०-स्वभावसिद्धि के आपेक्षिक होने से (उक्त कथन) ठीक नही ॥

सब पदार्थों के स्वभाव सापेक्ष हैं, ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ और दीर्घ की अपेक्षा से ह्रस्व कहाता है। विना अपेक्षा दूसरे की कोई पदार्थ भी अपने स्वरूप से अवस्थित नहीं है, अतएव आपेक्षिक होने से भावों की स्वभाव सिद्धि नहीं हो सकती ॥

अब इस का समाधान करते हैं:-

व्याहतत्वादयुक्तम् ॥ ४० ॥ (३९१)

उ०-परस्पर व्याघात होने से (उक्त कथन) युक्त नहीं ॥

यदि ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ है तौ दीर्घ किस की अपेक्षा से है ? यदि कहो कि ह्रस्व की अपेक्षा से तौ इस में अन्योन्याश्रय दोष आवेगा, जिस से अनवस्था उत्पन्न होगी इसलिये सारे भाव आपेक्षिक नहीं होसकते ॥

अब सङ्ख्यावादियों के मतको दिखलाते हैं, कोई एक ही पदार्थ को 'सत्' रूप से मानते हैं, कोई नित्य और अनित्य भेद से दो पदार्थों को मानते हैं, कोई ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय भेदों से तीन प्रकार का जगत् मानते हैं और

कोई प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति भेदों से चार प्रकार के पदार्थों को मानते हैं इत्यादि। अब इन की परीक्षा की जाती है –

संख्यैकान्ताऽसिद्धिः कारणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ॥४१॥ (३९२)

उ०–कारण की अनुपपत्ति और उपपत्ति होने से संख्यैकान्त (वाद) की असिद्धि है॥

यदि साध्य और साधन भिन्न २ हैं तो भेद रूप कारण की उपपत्ति से उन का एकान्त सिद्ध नहीं होता और यदि इन में अभेद है तो साधन की अनुपपत्ति से साध्य की सिद्धि हो नहीं सकती। दोनों हेतुओं से संख्यावाद असिद्ध है॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:–

न, कारणावयवभावात् ॥ ४२ ॥ (३९३)

पू०–कारण के अवयव के होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं॥

कारणों के अनेक अवयव हैं, उन में से कोई साधन होजायगा, फिर से संख्यावाद की सिद्धि हो जायगी॥ अब इस का खण्डन करते हैं:–

निरवयवत्वादहेतु ॥ ४३ ॥ (३९४)

उ० कारण के निरवयव होने से (उक्त हेतु) अहेतु है:—

अवयव कार्य के होते हैं, कारण निरवयव होता है, इस लिये उक्त हेतु ठीक नहीं। दूसरे सब निरवयवत्व होने से सब एक है ऐसी प्रतिवादी ने प्रतिज्ञा की थी तो अब उस के विरुद्ध अवयव की कल्पना अपनी प्रतिज्ञाहानि है॥

प्रेत्यभाव की परीक्षा हो चुकी अब फल की परीक्षा की जाती है। पहिले सन्देह करते हैं:–

सद्यः कालान्तरे च फलनिष्पत्तेः संशयः ॥ ४४ ॥ (३९५)

पू०–तत्काल और कालान्तर में फल की प्राप्ति होने से संशय होता है॥

पकाता है दुहता है इन क्रियाओं का फल भात और दूध तत्काल देखने में आता है। जोतता है, बोता है इन क्रियाओं का फल अन्न कालान्तर में देखा जाता है। स्वर्ग की इच्छा से होम करना यह भी एक प्रकार की क्रिया है इस के फल में सन्देह है॥ अब इस का उत्तर देते हैं:–

न, सद्यः कालान्तरोपभोग्यत्वात् ॥ ४५ ॥ (३९६)

उ०—कालान्तर में भोग्य होने से तत्काल फल नहीं होता ॥

जैसे वपन आदि क्रियाओं का फल तत्काल नहीं होता, किन्तु कालान्तर में होता है, पर उस मे किसी को सन्देह नहीं होता। ऐसे ही यजन आदि क्रियाओं का फल भी कालान्तर में भोग्य होने से संशयास्पद नहीं ॥

पुनः शङ्का करते हैं—

कालान्तरेणानिष्पत्तिर्हेतुविनाशात् ॥ ४६ ॥ (३९७)

पू०-हेतु के नाश होने से कालान्तर में (फल) सिद्धि नहीं हो सकती॥

क्रिया जब नष्ट हो गई तब कारण के विना उस का फल उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि नष्ट कारण से कुछ उत्पन्न नहीं होता ॥

अब इस का समाधान करते हैं—

प्राङ्निष्पत्तेर्वृक्षफलवत्तत्स्यात् ॥ ४७ ॥ (३९८)

उ०-वृक्षफल के समान उत्पत्ति से पूर्व वह होगा ॥

जैसे फलार्थी वृक्ष की जड़ मे सिञ्चन आदि क्रिया करता है, उस क्रिया के नष्ट होने पर मिट्टी जल से मिल कर भीतर की उष्णता से पकाई हुई रस को उत्पन्न करती है, वह रस वृक्षानुगत होकर रूपान्तर को प्राप्त हुवा पत्रादि फलों को उत्पन्न करता है। ऐसे ही प्रत्येक प्रवृत्ति (क्रिया) से धर्माऽधर्मलक्षणरूप संस्कार उत्पन्न होते हैं, फिर वे अन्य निमित्तों से अनुगृहीत हुवे कालान्तर में फल को उत्पन्न करते हैं ॥ पुनः शङ्का करते हैं :—

नासन्न सन्न सदसत्सदसतोर्वैधर्म्यात् ॥ ४८ ॥ (३९९)

पू०-सत् और असत् के वैधर्म्य होने से न असत् है न सत् है और न सदऽसत् है ॥

उत्पत्ति से पूर्व उत्पन्न होने वाले का अभाव नहीं, यदि अभाव होता तो फिर उस से उत्पत्ति कैसी? भाव भी नहीं हो सकता क्योंकि यदि उत्पत्ति से पूर्व उत्पन्न होने वाला विद्यमान होता तो फिर उस की उत्पत्ति कैसी? सदसत् भी नहीं हो सकता क्योंकि सत् और असत् का परस्पर विरोध है अर्थात् भाव कभी अभाव नहीं और अभाव कभी भाव नहीं हो सकता ॥

अब समाधान करते हैं:—

प्रागुत्पत्तेरुत्पत्तिधर्मकमसदित्यद्धोत्पादव्ययदर्शनात् ॥

॥ ४९ ॥ (४००)

उ०-उत्पत्ति से पूर्व उत्पत्तिधर्मक असत् है, यह सिद्धान्त है क्योंकि उत्पत्ति और विनाश देखने में आते हैं ॥

पहिले जो कहा था कि उपादानरूप से उत्पन्न होने के पूर्व कार्य सत् है, अब इस का उत्तर देते हैं :—

बुद्धिसिद्धन्तु तदसत् ॥ ५० ॥ (४०१)

उ०-जो बुद्धिसिद्ध है वह असत् है ॥

अमुक उपादान अमुक कार्य की उत्पत्ति में समर्थ है, यह बुद्धि (अनुमान) से सिद्ध है तन्तुओं से पट की निष्पत्ति को जानता हुआ तन्तुवाय पट बनाने में प्रवृत्त होता है, बालू से नहीं। इस से सिद्ध है कि उत्पत्ति से पूर्व उपादान कारण तो नियत होता है परन्तु कार्य को भी यदि सत् मान लिया जाय तो फिर उत्पत्ति ही कैसी ? इस लिये बुद्धि से सिद्ध होने वाला कार्य उत्पत्ति से पूर्व असत् है ॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:—

आश्रयव्यतिरेकाद्वृक्षफलोत्पत्तिवदित्यहेतु ॥ ५१ ॥ (४०२)

पू०-आश्रय के भेद होने से वृक्षफलोत्पत्ति का दृष्टान्त हेतु नहीं हो सकता ॥

जिस शरीर ने कर्म किया है, उस के नाश हो जाने पर फल की प्राप्ति किस को होगी ? इस में वृक्ष का दृष्टान्त ठीक नहीं क्योंकि वृक्ष का सींचना और उस में फल का आना ये दोनों बातें उसी वृक्ष के आश्रित हैं, पर दार्ष्टान्त में जिस शरीर से कर्म किया है, उससे भिन्न शरीर में फल की प्राप्ति बतलाई गई है। इस लिये आश्रयभेद होने से यह दृष्टान्त ठीक नहीं ॥

अब इस का समाधान करते हैं:—

प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेध ॥ ५२ ॥ (४०३)

उ०—इच्छा के आत्माश्रित होने से निषेध नहीं हो सकता ॥

इच्छा आत्मा का गुण है और उसी से कर्म (जो धर्माधर्मरूप से दो प्रकार का है) सम्बन्ध रखता है, शरीर तो केवल उस का अधिष्ठान मात्र है इस लिये कर्म और उस का फल ये दोनों आत्मा के ही आश्रित हैं और आत्मा (पूर्वापर) दोनों शरीरों में एक ही रहता है, अतः निषेध अयुक्त है ॥

पुनः शङ्का करते हैं:—

न पुत्रपशुस्त्रीपरिच्छदहिरण्यान्नादिफलनिर्द्देशात् ॥५३॥ (४०४)

पू०-पुत्र, पशु, स्त्री, परिच्छद, सुवर्ण और अन्नादि का फलों में निर्द्देश होने से (उक्त कथन) युक्त नहीं ॥

"पुत्रकामो यजेत" इत्यादि वाक्यों में पुत्रादि का फलत्वेन निर्द्देश किया गया है, इच्छा को फल कहना ठीक नहीं ॥ अब इस का उत्तर देते हैं:—

तत्सम्बन्धात्फलनिष्पत्तेस्तेषु फलवदुपचार: ॥५४॥ (४०५)

उ०-इच्छा के सम्बन्ध से फल की निष्पत्ति होने के कारण उन में फल के समान उपचार माना गया है ॥

इच्छा के सम्बन्ध से फल की उत्पत्ति होती है, इस लिये पुत्रादि में फल का उपचार माना गया है। जैसे "अन्नं वै प्राणाः" यहां पर अन्नमें प्राणत्व का आरोप किया गया है, इस लिये कि अन्न से प्राणों की पुष्टि होती है ॥

फल की परीक्षा समाप्त हुई, अब क्रमप्राप्त दुःख की परीक्षा की जाती है:-

विविधबाधनायोगाद्दु:खमेव जन्मोत्पत्ति: ॥ ५५ ॥ (४०६)

उ०-अनेक प्रकार के दुःखसम्बन्ध से जन्मोत्पत्ति दुःखरूप ही है ॥

दुःख का लक्षण बाधना कह चुके हैं, बाधना यद्यपि अनेक प्रकार की है तथापि तीन भेदों में उस का समावेश किया गया है। १—हीना, २—मध्यमा, ३—उत्कृष्टा। देवताओं से लेकर नारकी जीवों तक की उत्पत्ति उक्त बाधना से युक्त है। इस प्रकार समस्त संसार को दुःखयुक्त जान कर जो उस से निर्विण्ण होता है, वह दुःखबहुल सुखाभास में अनुरक्त नहीं होता। राग के अभाव से दुःख की हानि होती है ॥

अब इस पर शङ्का करते हैं—

न, सुखस्यान्तरालनिष्पत्ते: ॥ ५६ ॥ (४०७)

पू०-(दुःख के) बीच में सुख की निष्पत्ति होने से उक्त कथन ठीक नहीं॥

दुःख में ही सुख भी मिला हुवा है, इस का प्रमाण यह है कि दुःख भोगने के उपरान्त सुख की प्राप्ति होती है। बस संसार में जहां दुःख है, वहां सुख भी है। अतः सब को दुःखरूप बताना ठीक नहीं॥ अब इस का उत्तर देते हैं:-

बाधनाऽनिवृत्तेर्वेदयत: पर्येषणदोषादप्रतिषेध: ॥५७॥ (४०८)

अ०-दुःख की निवृत्ति न होने से तथा प्रार्थी के पर्येषण दोष से निषेध नहीं हो सकता ॥

सुखसाधनों में प्रवृत्त हुआ सुखार्थी मनुष्य जब कोई कामना करता है, यदि वह कामना पूरी न हुई या पूरी होकर फिर बिगड़ गई या अधूरी हुई या जैसी चाहता है वैसी न हुई इस पर्येषण दोष से अनेक प्रकार का मानसताप उत्पन्न होता है, क्योंकि सुखार्थी और सुख के लिये यत्नवान् पुरुष को भी कभी दुःख से मुक्त नहीं होने देता। इस के अतिरिक्त जब एक कामना मनुष्य की पूरी हो जाती है तब दूसरी और उत्पन्न होजाती है, यदि साम्राज्य भी किसी को मिल जाय तो भी उस को तृप्ति नहीं होती अतः विवेकी पुरुषों के लिये संसार दुःखरूप ही है ॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

दुःखविकल्पे सुखाभिमानाच्च ॥ ५८ ॥ (४०९)

अ०-दुःख के विकल्प में सुख का अभिमान होने से भी (शरीरादि की उत्पत्ति दुःखरूप ही है)

यह जीव सांसारिक सुख को अनुभव करता हुआ उस ही को परम पुरुषार्थ मानता है और उस की प्राप्ति से अपने को कृतार्थ मानता है। मिथ्याज्ञान से सुखाभास को सुख समझ कर उस के साधन विषयादि में अनुरक्त होता है, जिस से जन्म, मरण, जरा, व्याधि, इष्टवियोग और अनिष्ट संयोग आदि अनेक प्रकार का दुःख उत्पन्न होता है, परन्तु यह राग में अनुबद्ध हुआ उस को बार २ अनुभव करता हुआ भी भूल जाता है और उस अल्प सुख से जो इस महादुःख से मिश्रित है, उन्मत्त हो जाता है इस से सिद्ध है कि अविवेकी पुरुष ही इस दुःखमय संसार को सुखमय मानता है तत्त्वदर्शी पुरुष तो इस सुखाभास को दुःखमय ही जान कर इस में लिप्त नहीं होता ॥

दुःख की परीक्षा समाप्त हुई अब क्रमप्राप्त अपवर्ग की परीक्षा की जाती है ॥ प्रथम प्रतिवादी शङ्का करता है:-

ऋणक्लेशप्रवृत्त्यनुबन्धादपवर्गाभावः ॥ ५९ ॥ (४१०)

पू०-ऋण क्लेश और प्रवृत्ति के अनुबन्ध से अपवर्ग का अभाव है ॥

" जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवाञ्जायते " ब्राह्मण उत्पन्न होने के साथ ही तीन ऋणों से ऋणवान् होता है वे तीन ऋण ये हैं:-

ऋषिऋण, देवऋण, पितृऋण; ब्रह्मचर्य से ऋषिऋण, यज्ञ से देवऋण और प्रजोत्पत्ति से पितृऋण चुकाया जाता है, यह शास्त्र की मर्यादा है। इस के अनुसार ऋणों के चुकाने में ही मनुष्य का सारा जीवन समाप्त होजाता है-फिर मोक्ष के लिये समय कहां रहा? और विना ऋण चुकाये मोक्षसाधन शास्त्रविरुद्ध है, यथाह मनु —" ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्। अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यधः " तीनो ऋणों को चुकाकर मोक्ष में मन लगावे, विना ऋण चुकाये मोक्षसाधन में प्रवृत्त होने वाला अधोगति को प्राप्त होता है। क्लेशों के अनुबन्ध से भी मोक्ष का अभाव है क्योंकि प्राणी यावज्जीवन क्लेशों में बन्धा हुआ रहता है और फिर मरणानन्तर भी क्लेशानुबद्ध ही जन्म लेता है, जब किसी समय भी क्लेश के अनुबन्ध का विच्छेद नहीं होता, तब मोक्ष के लिये समय कहां रहा? प्रवृत्ति के अनुबन्ध से भी मोक्ष का अभाव सिद्ध होता है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी यावज्जीवन वाणी बुद्धि और शरीर से कर्मों को करता हुवा धर्माधर्म का उपार्जन करता है, फिर मोक्ष के लिये समय कहां? अब इस का उत्तर देते हैं.—

प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुणशब्देनानुवादो निन्दाप्रशंसोपपत्तेः

॥ ६० ॥ (४११)

उ०—प्रधान शब्द की उपपत्ति न होने से तथा निन्दा और प्रशंसा की उपपत्ति होने से गुणशब्द से अनुवाद किया गया है॥

जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते " इस वाक्य में 'ऋण' शब्द प्रधानपरक नहीं है, क्योंकि जहां पर देय दिया जाता और आदेय लिया जाता है वहीं पर ऋण शब्द की प्रधान वाच्यता है, प्रधान वाच्य की योग्यता न होने से यहां पर केवल गौण शब्द से अनुवाद किया गया है। जैसे माणवक के लिये अग्नि शब्द का प्रयोग किया जाता है, वैसे ही ब्रह्मचर्यादि के लिये यहां ऋण शब्द का प्रयोग किया गया है अर्थात् ऋण के तुल्य। यदि कहो कि गौण शब्द का प्रयोग क्यों किया गया? तो इस का उत्तर यह है कि निन्दा और स्तुति के लिये, जैसे ऋणी ऋण के न देने से निन्दित होता है वैसे ही द्विज कर्म के लोप होने से निन्दनीय होता है और जैसे ऋणी ऋण के देने से मुक्तभार होकर प्रशंसा पाता है वैसे ही द्विज कर्म के अनुष्ठान से कृतकृत्य होकर प्रशंसास्पद होता है तथा उक्त वाक्य में 'जायमान' शब्द भी गौण है क्योंकि उस से प्रसवकाल का ग्रहण नहीं होता किन्तु गृहस्थ

के आरम्भ का समय लिया जाता है माता के गर्भ से उत्पन्न होते ही कोई बालक कर्म करने में समर्थ नहीं हो जाता, किन्तु जब गृहस्थ में प्रविष्ट होता है तभी अधिकार और सामर्थ्य उस को प्राप्त होता है। जैसे अन्धों को रूप दिखाना और बधिरों को गान सुनाना निरर्थक है ऐसे ही आजन्म बालक को ब्रह्मचर्य और यज्ञादि का उपदेश करना निष्फल है, अतएव उक्त वाक्य के अर्थवादपरक होने से मोक्ष का विलोप नहीं होता॥

पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

अधिकाराच्च विधानं विद्यान्तरवत्॥ ६१॥ (४१२)

उ०- अन्य विद्याओं की भान्ति अधिकार से विधान होता है॥

सब शास्त्र अपने २ विषय के विधायक हैं, इस लिये उन का तात्पर्य केवल अपने २ प्रतिपाद्य के प्रतिपादन से है, न कि अन्य शास्त्रप्रतिपादित विषय के खण्डन से। गृहस्थशास्त्र अपने कर्तव्यों का विधान करता हुआ दूसरे आश्रमों के अधिकार में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। ऋचा और ब्राह्मण मोक्ष का विधान करते हैं, यथा ऋचा-" कर्मभिर्मृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमिच्छमानाः। अथापरे ऋषयो मनीषिणः परं कर्मभ्योऽमृतत्वमानशुः। न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" इत्यादि अनेक ऋचा हैं, इन का सारांश यह है कि धन और सन्तान आदि की कामना रखने वाले ऋषि तत्तत्कर्म का सेवन करते हुवे मृत्यु को प्राप्त होते हैं, दूसरे विचारवान् ऋषि उन के त्याग से मोक्ष के भागी होते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मण भी मोक्ष का प्रतिपादन करते हैं, यथा-अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथा कामो भवति तथाक्रतुर्भवति यथा यत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते। अकामयमानो योऽकामो निष्काम आत्मकामो भवति न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीति"। इन सब का सारांश यही है कि कर्त्ता जिस कामना से कर्म करता है उस को प्राप्त होता है और निष्काम कर्म से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतएव ऋणादि मोक्ष के बाधक नहीं हो सकते॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः॥ ६२॥ (४१३)

उ०-आत्मा में (अग्नि के) समारोपण करने से निषेध नहीं हो सकता॥

" प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेत्" इत्यादि ब्राह्मणवाक्यों में आहवनीयादि तीनों अग्नियों

का आत्मा में आरोपणपूर्वक संन्यासाश्रम का-विधान पाया जाता है और सम्पूर्ण धर्मशास्त्र चारों आश्रमों का विधान करते हैं, इस लिये मोक्ष का प्रतिषेध नहीं हो सकता ॥ अब क्लेशानुबन्ध का निवारण करते हैं.—

सुषुप्तस्य स्वप्नादर्शने क्लेशाभावादपवर्गः ॥ ६३ ॥ (४१४)

उ०-सोये हुवे को स्वप्न के न दीखने की दशा में क्लेश का अभाव होने से अपवर्ग की सिद्धि है ॥

जैसे गाढनिद्रा में सोये हुवे पुरुष को रागानुबन्ध के टूटजाने से सुख दुःख का अनुभव नहीं होता, ऐसे ही ज्ञानी पुरुष को रागादि के अभाव से मोक्ष में भी सुख दुःख का सम्बन्ध नहीं रहता, अतएव क्लेशानुबन्ध भी मोक्ष का बाधक नहीं हो सकता ॥ अब प्रवृत्ति के अनुबन्ध का निवारण करते हैं:-

न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य ॥ ६४ ॥ (४१५)

उ०-हीनक्लेश की प्रवृत्ति बन्धन के लिये नहीं होती ॥

क्लेश का कारण रागादि दोष हैं, वे जिस के निवृत्त होगये ऐसे वीतराग पुरुष की प्रवृत्ति बन्धन के लिये नहीं होती क्योंकि जो कर्म सकाम किये जाते हैं वे ही बन्धन का कारण होते हैं, निष्काम नहीं ॥

अब इस पर शङ्का करते हैं.—

न,क्लेशसन्ततेः स्वाभाविकत्वात् ॥ ६५ ॥ (४१६)

पू०-क्लेशसन्तति के स्वाभाविक होने से क्लेशानुबन्ध का विच्छेद नहीं हो सकता ॥

रागादि की परम्परा अनादि है, उस का कभी विच्छेद नहीं हो सकता, अतएव क्लेशानुबन्ध अनिवार्य है ॥ अब इस का समाधान करते हैं:-

प्रागुत्पत्तेरभावाऽनित्यत्ववत् स्वाभाविकेऽप्यनित्यत्वम्॥६६॥

उत्पत्ति के पूर्व अभाव की अनित्यता के समान स्वाभाविक में भी अनित्यता होती है ॥ (४१७)

जैसे उत्पत्ति के पूर्व अनादि प्रागभाव उत्पन्नभाव से निवृत्त हो जाता है ऐसे ही स्वाभाविक क्लेशसन्तति भी अनित्य है ॥ इस पर दूसरा कहता है:-

अणुश्यामताऽनित्यवद्वा ॥ ६७ ॥ (४१८)

अथवा परमाणुओं की श्यामता के समान (क्लेशसन्तति अनित्य है) जैसे परमाणुओं की स्वाभाविक श्यामता अग्निसंयोग से नष्ट हो जाती है, ऐसे ही स्वाभाविक क्लेशसन्तति भी अनित्य हो जायगी। इन दोनों हेतुओं को पर्याप्त न मानते हुये सूत्रकार दूसरा समाधान करते हैं:—

न, सङ्कल्पनिमित्तत्वाच्च रागादीनाम् ॥६८॥ (४१९)

उ०-रागादि के सङ्कल्पनिमित्तक होने से (उक्त कथन) युक्त नहीं। सङ्कल्प से रागादि की उत्पत्ति होती है, तत्वज्ञान के होने पर सारे सङ्कल्प और विकल्प निवृत्त हो जाते हैं जब सङ्कल्परूप कारण ही न रहा, तब रागादि उस के कार्य क्योंकर रह सकते हैं, जब जब रागादि निवृत्त हो गये, तब क्लेशानुबन्ध के विच्छेद में सन्देह ही क्या रहा?

इति न्यायदर्शने चतुर्थाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

—*(*)*—

अथ द्वितीयमाह्निकम्

अपवर्ग की परीक्षा समाप्त हुई, अब इस दूसरे आह्निक में तत्वज्ञान की परीक्षा प्रारम्भ की जाती है, प्रथम तत्वज्ञान की उत्पत्ति का क्रम दिखलाया जाता है:—

दोषनिमित्तानां तत्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः ॥१॥ (४२०)

उ०-दोष निमित्तों के तत्वज्ञान से अहङ्कार की निवृत्ति होती है। रागादि दोषों के निमित्त जो शरीरादि हैं, उन का तत्व ज्ञान होने से अहङ्कार की निवृत्ति होती है। क्योंकि शरीरादि में आत्मबुद्धि रखता हुआ ही प्राणी रञ्जनीय विषयों में अनुराग करता है तथा कोपनीय विषयों में क्रोध करता है जब वह यह ज्ञान लेता है कि शरीरादि से आत्मा पृथक् है तब मोह के अभाव में राग द्वेष उत्पन्न ही नहीं होते। अब विषयों का निरूपण करते हैं:—

दोषनिमित्तं रूपादयो विषयाः सङ्कल्पकृताः ॥२॥ (४२१)

दोष के निमित्त रूपादि विषय सङ्कल्पकृत हैं।

विषय दो प्रकार के हैं एक बाह्य और दूसरे अध्यात्म। ये दोनों सङ्कल्प से उत्पन्न होते हैं। मुमुक्षु को चाहिये कि पहिले रूपादि बाह्य विषयों

से (जो रागादि दोषों के निमित्त हैं) उपरत हो, तत्पश्चात् अध्यात्म=शरीरादि के अहङ्कार को दूर करे। इस प्रकार जो बाहर और भीतर दोनों से विरक्त हो कर विचरता है, वह संसार में रहता हुआ और देहादि को रखता हुआ भी मुक्त कहाता है॥ रागादि की निवृत्ति का उपाय दिखलाते हैं:-

तन्निमित्तन्त्ववयव्यभिमानः ॥ ३॥ (४२२)

उन दोषों का निमित्त तो अवयवी का अभिमान है॥

अवयवी (स्त्री आदि के शरीर) में जो अभिमान (ममत्व बुद्धि) का होना है यही रागादि दोषों का निमित्त है, अतएव मुमुक्षु को उचित है कि वह इस चर्ममय मांसपिण्ड को विषसम्पृक्त अन्नवत् समझे॥

अब अवयवी में सन्देह करते हैं:—

विद्याऽविद्याद्वैविध्यात्संशयः ॥ ४ ॥ (४२३)

पू०-विद्या और अविद्या के द्वैविध्य से सन्देह होता है॥

सदसत्(दृष्टाऽदृष्ट) दोनों की उपलब्धि और अनुपलब्धि होने से विद्या और अविद्या दो प्रकार की हैं। विद्या से जहां सत् की उपलब्धि होती है, वहां असत् की भी, ऐसे ही अविद्या से जहा असत् की अनुपलब्धि होती है, वहां सत् की भी। बस इस विद्या और अविद्या के द्वैविध्य से अवयवी में संशय होता है॥ अब इस का समाधान करते हैं:—

तदसंशयः पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात् ॥ ५ ॥ (४२४)

उ०-पूर्व हेतु प्रसिद्ध होने से उस में संशय नहीं है॥

द्वितीयाऽध्याय में हेतुओं से अवयवी की सिद्धि कर चुके हैं, उन का जब तक खण्डन न हो तब तक संशय अनुपपन्न है॥ द्वितीय पक्ष में भी:-

वृत्त्यनुपपत्तेरपि तर्हि न संशयः॥ ६ ॥ (४२५)

उ०-वृत्ति की अनुपपत्ति से भी संशय नहीं हो सकता॥

यदि अवयवी का अभाव मान लिया जावे तो भी उस में संशय नहीं हो सकता क्योंकि जो वस्तु है उसी में सन्देह होता है और जो वस्तु ही नहीं उस में सन्देह कैसा? अब यहां से चार सूत्रों में पूर्वपक्षी अवयवी का अभाव प्रतिपादन करता है:-

कृत्स्नैकदेशावृत्तित्वादवयवानामवयव्यभावः ॥ ७ ॥ (४२६)

पू०-सम्पूर्ण अवयवों के एकदेशवर्ती होने से अवयवी का अभाव है।

एक २ अवयव सारे अवयवी में नहीं रह सकता क्योंकि उन के परिमाण में भेद है, अतएव अवयवों से भिन्न कोई अवयवी नहीं है ॥

तेषु चावृत्तेरवयव्यभावः ॥ ८ ॥ (४२७)

उन (अवयवों) में अवृत्ति होने से अवयवी का अभाव है ॥

परिमाण में भेद होने से अवयवी प्रत्येक अवयव में नहीं रह सकता और यदि एक देश में उस की स्थिति मानी जावे तो वह अन्य अवयवों के अभाव से अवयवी नहीं रह सकता, इस लिये अवयवी के होने में सन्देह है।

पृथक् चावयवेभ्योऽवृत्तेः ॥ ९ ॥ (४२८)

अवयवों से पृथक् वर्तमान न होने से भी (अवयवी कोई नहीं) ॥

अवयवों से पृथक् और कोई अवयवी सिद्ध नहीं होता ॥

न चावयव्यवयवाः ॥ १० ॥ (४२९)

और अवयव अवयवी हो नहीं सकते ॥

यदि अवयवों को ही अवयवी माना जावे तो यह हो नहीं सकता क्योंकि वस्तु को अंश और सकल को यह कोई नहीं मान सकता ॥

अब सूत्रकार अपना सिद्धान्त कहते हैं:—

एकस्मिन् भेदाभावाद्भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेरप्रश्नः ॥११॥ (४३०)

उ०-एक में भेद का अभाव होने के कारण भेद शब्द के प्रयोग की अनुपपत्ति होने से उक्त प्रश्न नहीं हो सकता ॥

पूर्वपक्षी ने जो यह प्रश्न किया था कि अवयवी सम्पूर्ण अवयवों में रहता है अथवा एक देश में। यह प्रश्न ही अयुक्त है क्योंकि एक में भेद न होने से भेद शब्द का प्रयोग ही नहीं हो सकता। अनेकों के समुदाय को कृत्स्न कहते हैं और अनेकत्व के होते हुये एक अवयव को एकदेश कहा जाता है सो ये दोनों कृत्स्न और एकदेश भेदबोधक हैं, एक अवयवी में इन की उपपत्ति ही नहीं हो सकती ॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:—

अवयवान्तराभावेऽप्यवृत्तेरहेतुः ॥ १२ ॥ (४३१)

उ०-अवयवान्तर के अभाव में भी वृत्ति न होने से (उक्त हेतु) अहेतु है।

"अवयवी अपने अवयवों में एकदेश से नहीं वर्तता अवयवान्तर के

अभाव से"। यह जो प्रतिपक्षी ने हेतु दिया था सो अयुक्त है क्योंकि अवयवान्तर के अभाव में अवयवी की वृत्ति का भी अभाव होगा। अवयव और अवयवी मे जो अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, वह तभी रह सकता है जब कि अवयवी अपनी वृत्तियों से सम्पूर्ण अवयवों में वर्त्तमान हो॥

अब इस पर प्रतिपक्षी दूषण देता है।—

केशसमूहे तैमिरिकोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ॥१३॥ (४३२)

पू०-केशसमूह में तैमिरिक (अन्धकाराच्छन्न) की उपलब्धि के समान उस की उपलब्धि हो जावेगी॥

जैसे तिमिरावृत नेत्र से एक बाल नहीं दीख सकता, वैसे ही एक अणु (अवयव) के न दीखने पर भी अणुसमूह घटादि (अवयवी) का ज्ञान होना सम्भव है। अत अवयवो का समूह ही अवयवी है, उस से भिन्न अवयवी और कोई वस्तु नहीं॥ अब इस का उत्तर देते हैं :—

स्वविषयानतिक्रमेणेन्द्रियस्य पटुमन्दभावाद्विषय-
ग्रहणस्य तथाभावो नाऽविषये प्रवृत्तिः॥१४॥(४३३)

उ०-अपने २ विषय के अनतिक्रमण से इन्द्रियों के तीव्र और मन्द होने के कारण तदनुसार विषयग्रहण होता है, अन्य विषय मे प्रवृत्ति नहीं होती॥

इन्द्रिय अपने २ विषय का अतिक्रमण नहीं कर सकते। नेत्र चाहे कैसे ही तीव्र क्यो न हो, परन्तु शब्द को ग्रहण नहीं कर सकते, तात्पर्य यह है कि अपने से अन्य विषय मे किसी इन्द्रिय की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। परमाणु अतीन्द्रिय हैं, इस लिये किसी इन्द्रिय से उन का ग्रहण नहीं हो सकता, जब एक परमाणु अतीन्द्रिय है तो उन का समूह भी इन्द्रियग्राह्य नहीं हो सकता, अतएव द्रव्यान्तर की सिद्धि होती है, जिस का इन्द्रिय से ग्रहण होता है॥ अब इस पर आक्षेप करते हैं।—

अवयवावयविप्रसङ्गश्चैवमाप्रलयात् ॥ १५ ॥ (४३४)

पू०-इस प्रकार प्रलय तक अवयव और अवयवी का प्रसङ्ग (होगा)॥

यदि अवयवों मे अवयवी की वृत्ति के निषेध से अवयवी का अभाव सिद्ध हो तो फिर सब का लय प्रसक्त होगा, अथवा निरवयव होने से परमाणुत्व की निवृत्ति हो जायगी, दोनों दशाओं मे उपलब्धि का अभाव होगा॥ अब इस का समाधान करते हैं:—

न, प्रलयोऽणुसद्भावात् ॥ १६ ॥ (४३५)

उ०-परमाणुओं के सद्भाव से नाश न होगा ॥

अवयवों के विभाग का आश्रय लेकर बुद्धि के विवेक से जो अभाव की कल्पना की गई है, वह परमाणु के निरवयव होने से निवृत्त हो जायगी। परमाणु उसी को कहते हैं कि जिस का विभाग न हो सके, जब जिस का विभाग ही नहीं हो सकता उस का नाश कैसा ? क्योंकि विभाग ही को नाश कहते हैं ॥ अब परमाणु का लक्षण कहते हैं:—

परं वा त्रुटेः ॥ १७ ॥ (४३६)

त्रुटि से (जो) सूक्ष्म है ॥

त्रुटि (नाश) से जो अतिरिक्त है अथवा त्रुटि में भी जो अवस्थित रहता है, उस को परमाणु कहते हैं, "वा" निपात यहां अवधारण और विकल्प दोनों में है ॥ अब शून्यवादी परमाणु के निरवयवत्व पर आक्षेप करता है:—

आकाशव्यतिभेदात्तदनुपपत्तिः ॥ १८ ॥ (४३७)

पू०—आकाश के व्यतिभेद से उस (निरवयवत्व) की उपपत्ति नहीं है ॥

परमाणु के भीतर और बाहर आकाश व्यापक है, व्याप्य होने से वह सावयव है, अतः अनित्य है ॥ अथवा—

आकाशाऽसर्वगतत्वं वा ॥ १९ ॥ (४३८)

पू०-वा आकाश सर्वगत नहीं है ॥

यदि परमाणु में आकाश का व्यापक होना नहीं मानोगे तो फिर आकाश सर्वदेशी न रहेगा ॥ अब इस का समाधान करते हैं:—

अन्तर्बहिश्च कार्यद्रव्यस्य कारणान्तरवचनादकार्ये तदभावः ॥ २० ॥ (४३९)

उ०—भीतर और बाहर कार्यद्रव्य से कारणान्तर वचन से अकार्य में उस का अभाव है

भीतर और बाहर यह व्यवहार कार्यद्रव्य में (जब कि वह कारण की दशा में नहीं है) हो सकता है, कारण रूप सूक्ष्म परमाणुओं में यह व्यवहार नहीं बन सकता क्योंकि जिस का विभाग न होसके वा जिस से कोई अणु न हो, वह परमाणु है ॥ पुनः उसी की पुष्टि करते हैं:—

सर्वसंयोगशब्दविभवाच्च सर्वगतम् ॥ २१ ॥ (४४०)

सर्वत्र संयोग और शब्द के होने से (आकाश) सर्वगत है ॥

संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जिस में आकाश न हो, अत्यन्त घन पाषाण और धातुओं में भी आकाश विद्यमान है, यदि आकाश न होता तो उन में छिद्र रूप अवकाश न हो सकता, अतएव आकाश सर्वदेशी है ॥

अब आकाश के लक्षण कहते हैं:-

अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि चाकाशधर्माः ॥२२॥ ॥ (४४१)

अव्यूह, अविष्टम्भ और विभुत्व ये आकाश के धर्म हैं ॥

मिलेहुवे पदार्थों का आघात से अलग २ होना व्यूह और अन्य देश में गति का निरोध विष्टम्भ कहलाता है। सो आकाश में ये दोनों बातें नहीं हैं, न तो कोई आघात से मृत्पिण्ड के समान उस का व्यूहन कर सकता है और न कोई बन्ध बान्धकर जल के समान कहीं उस की गति का निरोध कर सकता है, स्पर्शरहित होने से केवल विभुत्व ही आकाश का धर्म है। अत आकाश के व्यापक होने से परमाणुओं के निरवयवत्व और नित्यत्व में कोई बाधा नहीं हो सकती ॥

अब पूर्वपक्षी फिर शङ्का करता है.—

मूर्त्तिमताञ्च संस्थानोपपत्तेरवयवसद्भावः ॥२३॥ (४४२)

पू० मूर्त्तिमान् द्रव्यो में परिमाण की उपपत्ति होने से (परमाणुओं में) अवयव का सद्भाव होता है ॥

परिच्छिन्न और स्पर्शवान् द्रव्यों के त्रिकोण, चतुष्कोण, सम, विषम और मण्डलादि अनेक प्रकार के आकार देखे जाते हैं, परमाणु भी परिच्छिन्न और स्पर्शवान् होने से आकारयुक्त हैं, निरवयव नहीं हो सकते ॥

पुनः पूर्वपक्षी अपने कथन की पुष्टि करता है·—

संयोगोपपत्तेश्च ॥ २४ ॥ (४४३)

पू०-संयोग की उपपत्ति से भी (परमाणुओं का सावयव होना सिद्ध होता है)॥

संयोग परमाणुओं का धर्म है, मध्यस्थपरमाणु इधर उधर के परमाणुओं से संयुक्त होकर उन में व्यवधान (भेद) कराता है, जिस से उस के पूर्व और पर भाग बनते हैं और यही उस के अवयव हैं। अतएव संयोग के होने से परमाणु निरवयव नहीं हो सकते ॥ अब इन का समाधान करते हैं:—

अनवस्थाकारित्वादनवस्थानुपपत्तेश्चाप्रतिषेधः ॥२५॥ (४४४)

उ०-अनवस्थाकारी होने से और अनवस्था की उपपत्ति न होने से (निरवयवत्व का) निषेध ठीक नहीं ॥

जितने मूर्तिमान् पदार्थ हैं और जो संयुक्त होते हैं वे सब सावयव हैं यह हेतु अनवस्थाकारी है क्योंकि जब सब पदार्थ सावयव हैं और उन की कोई व्यवस्था ही नहीं तो इस दशा में पदार्थों के परिमाण भेद और गुरुत्वादि का ग्रहण न होसकेगा अर्थात् मेरु और सर्षप में तुल्य परिमाणत्व की अवस्था होगी, अतः अनवस्था के होने से उक्त हेतु अपर्याप्त है ॥

निरवयवत्व का प्रकरण समाप्त हुआ। अब इस बात का विवेचन किया जाता है कि सब भाव बुद्धि के आश्रित हैं वा नहीं? प्रथम पूर्वपक्षी भावों के बुद्धिगम्य होने में शङ्का करता है:-

बुद्ध्या विवेचनात्तु भावानां याथात्म्यानुपलब्धिस्तन्त्वपकर्षणे पटसद्भावानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धिः ॥२६॥ (४४५)

पू० बुद्धि से विचारने पर तो भावों की यथार्थ स्वरूप नहीं होती जैसे तन्तु के अनुभव करने पर पट के सद्भाव की उपलब्धि नहीं होती वैसे ही (प्रत्येक पदार्थ के बुद्धि से अनुभव करने मात्र से) उन की उपलब्धि नहीं होती ॥ अब इस का उत्तर देते हैं -

व्याहतत्वादहेतुः ॥ २७ ॥ (४४६)

उ० व्याहत होने से (यह हेतु) अहेतु है ॥

जहां बुद्धि से विवेचन किया जाता है वहां भावों की अनुपलब्धि नहीं रह सकती और जहां भावों की अनुपलब्धि है, वहां बुद्धि से विवेचन नहीं किया जाता। इस व्याघात दोष के होने से उक्त हेतु ठीक नहीं। वास्तव में बुद्धि से विवेचन करने पर तन्तु से पट होता है यह प्रतीति होती है, न कि तन्तु ही पट है, यह। और न कोई बुद्धिमान् तन्तु से पट का और पट से तन्तु का काम लेता है अतः सारे भाव बुद्धि के आश्रित हैं ॥

पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

तदाश्रयत्वादपृथग्ग्रहणम् ॥ २८ ॥ (४४७)

उ० उस के आश्रित होने से पृथक् ग्रहण नहीं होता ॥

कार्य सदा अपने कारण के आश्रित रहता है इस लिये उस का पृथक् ग्रहण नहीं किया जाता अर्थात् कार्यकारण के समवाय सम्बन्ध होने से दोनों

का साथ २ ग्रहण किया जाता है, परन्तु बुद्धि से विवेचन करने पर उन का भेद स्पष्ट प्रतीत होने लगता है ॥ पुन उसी की पुष्टि की जाती है:—

प्रमाणतश्चाऽर्थप्रतिपत्तेः ॥ २९ ॥ (४४८)

उ०—प्रमाण से अर्थ की प्रतिपत्ति होती है इस लिये भी (उक्त कथन ठीक नहीं)

जो है और जैसा है, प्रमाण से उस की उपलब्धि होती है और वह विना बुद्धि से विवेचन किये हो नहीं सकती अत: बुद्धि से विचार करने पर ही सम्पूर्ण भावों की उपलब्धि होती है ॥ पुन उक्तार्थ की ही पुष्टि की जाती है:—

प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ॥ ३० ॥ (४४९)

उ०-प्रमाण की अनुपपत्ति और उपपत्ति से (भी पूर्वपक्ष ठीक नहीं) ॥

" बुद्धि से विचार करने पर कुछ नहीं है " यह जो प्रतिवादी का पक्ष था, यदि इस में प्रमाण है तो " कुछ नहीं " यह कहना ही नहीं बन सकता क्योंकि प्रमाण तो हुवा और वह भी कुछ के अन्तर्गत है और यदि इस में प्रमाण नहीं है तो प्रमाण के विना " कुछ नहीं है " इस की सिद्धि क्योंकर होगी ? यदि प्रमाण के विना भी सिद्धि मानोगे तो " सब कुछ है " यही क्यों न मानलो ॥ अब आगे दो सूत्रों से प्रतिवादी शङ्का करता है —

स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाऽभिमानः ॥३१॥ (४५०)

मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा ॥ ३२ ॥ (४५१)

पू०-स्वप्नविषयक अभिमान के समान यह प्रमाण और प्रमेय का अभिमान है ॥ अथवा माया, गन्धर्वनगर और मृगतृष्णा के समान है ॥

जैसे स्वप्न मे विषयो की वास्तविक उपलब्धि नहीं होती किन्तु मिथ्या अभिमान होता है और जैसे माया, गन्धर्वनगर और मृगतृष्णा वास्तव में ये कुछ भी पदार्थ नहीं हैं, केवल संज्ञामात्र है, ऐसे ही आप का अभिमत प्रमाण और प्रमेय भाव भी कल्पित और वस्तुशून्य है ॥

अब इस का समाधान करते हैं:—

हेत्वभावादसिद्धिः ॥ ३३ ॥ (४५२)

उ०-हेतु के अभाव से (उक्त पक्ष की) असिद्धि है ॥

स्वप्न में असत् विषयो की उपलब्धि होती है, इस कथन में भी कोई हेतु नहीं है । यदि कहो कि जागने पर उन की उपलब्धि न होना ही इस में प्रमाण है, तो हम कहेंगे कि यदि जागने पर उपलब्धि न होने से स्वप्न मे

विषयों का अभाव है तो जागते हुये मनुष्य को उन की उपलब्धि होने से उन का भाव है । तात्पर्य इस का यह है कि यदि तुम जाग्रत् अवस्था के अनुपलम्भ से स्वप्न में विषयों का अभाव सिद्ध करोगे तो हम जाग्रत् के उपलम्भ से उन का भाव सिद्ध करेंगे । पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

स्मृतिसङ्कल्पवच्च स्वप्नविषयाभिमानः ॥३४॥ (४५३)

भा०-स्मृति और सङ्कल्प के समान स्वप्न विषय का अभिमान है ।

जैसे पूर्वोपलब्ध विषयों के स्मृति और सङ्कल्प उन का खण्डन नहीं करते, प्रत्युत उन की पुष्टि करते हैं, ऐसे ही स्वप्न में विषयों का ज्ञान पूर्वोपलब्ध विषयों का खण्डन नहीं कर सकता । जो सोयाहुआ स्वप्न देखता है, वही जाग कर स्वप्न में जो देखा है, उस का प्रतिसन्धान करता है कि मैंने यह देखा, तब बुद्धि वृत्ति के जाग्रत् अवस्था में होने से स्वप्न विषयों के मिथ्या होने का निश्चय करता है । यदि स्वप्न और जागरण में कुछ भेद न होता तो "स्वप्नविषय के अभिमानवत्" यह कहना निरर्थक होता । तात्पर्य यह है कि जो धर्म जिस वस्तु में नहीं है, उस धर्म का उस वस्तु में बोध होना प्रधान (उपलभ्यमान) के अधीन है । पुरुषहीन स्थाणु में पुरुष बुद्धि होना उसी पुरुष के ही आश्रित है, क्योंकि जिस को कभी पुरुष की उपलब्धि नहीं हुई है उस को स्थाणु में भी पुरुष का ज्ञान नहीं होसकता, इसी प्रकार स्वप्न में भी हस्ती, पर्वत आदि का देखना तद्विषयकस्मृति और सङ्कल्प के अधीन है ॥

अब भ्रान्ति का निरोध क्योंकर हो सकता है ? यह दिखलाते हैं:-

मिथ्योपलब्धिविनाशस्तत्त्वज्ञानात्स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशवत्प्रतिबोधे ॥ ३५ ॥ (४५४)

भा०-जागने पर जैसे स्वप्नविषयक अभिमान का नाश होजाता है ऐसे ही तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होता है ॥

जिस वस्तु में जो धर्म नहीं है उस में उस का मानना मिथ्याज्ञान कहलाता है । जैसे स्थाणु को पुरुष समझना और जो पदार्थ जैसा है, उस को वैसा ही मानना तत्त्वज्ञान कहलाता है, जैसे स्थाणु को स्थाणु और पुरुष को पुरुष मानना । सो यह मिथ्याज्ञान(कुछ का कुछ समझना)तत्त्वज्ञान होने पर ऐसे ही नष्ट हो जाता है जैसे जागने पर स्वप्नविषयक अभिमान जाता रहता है ॥

अब मिथ्या बुद्धि का भी सद्भाव सिद्ध करते हैं -

बुद्धेश्चैवं निमित्तसद्भावोपलम्भात् ॥ ३६ ॥ (४५५)

कारण और सत्ता की उपलब्धि होने से मिथ्या बुद्धि का भी (अस्तित्व है)॥

मिथ्या बुद्धि का कारण और उससे उत्पन्न हुई उस की सत्ता इन दोनों की उपलब्धि होती है, इस लिये मिथ्या बुद्धि भी अवश्य है ॥

अब मिथ्याबुद्धि के भेद दिखलाते हैं —

तत्त्वप्रधानभेदाच्च मिथ्याबुद्धेर्द्वैविध्योपपत्तिः ॥३७॥ (४५६)

तत्त्व और प्रधान इन दो भेदों से मिथ्या बुद्धि दो प्रकार की है ॥

स्थाणु तत्त्व है और पुरुष प्रधान है, इन दोनों में भेद होने से ही स्थाणु में पुरुष की भ्रान्ति होती है और इसी को मिथ्या बुद्धि कहते हैं जो कि उभयास्पद होने से ही दो प्रकार की मानी गई है। यद्यपि तत्त्वबुद्धि के होने पर मिथ्या बुद्धि नहीं रहती तथापि जब तक तत्त्वबुद्धि उत्पन्न नहीं होती तब तक तो उस की सत्ता माननी पड़ती है ॥

अब तत्त्वज्ञान कैसे उत्पन्न होता है, यह दिखलाते है -

समाधिविशेषाभ्यासात् ॥ ३८ ॥ (४५७)

समाधिविशेष के अभ्यास से (तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है) ॥

इन्द्रियों के अर्थों से हटाये हुवे मन को धारक प्रयत्न के द्वारा आत्मा में लगाने का नाम समाधि है, उस समाधि के अभ्यास से तत्त्वबुद्धि उत्पन्न होती है, जिस से चित्त के मल विक्षेप और आवरण दूर होकर आत्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञान होता है ॥

अब आगे के दो सूत्रों से पूर्वपक्ष लेकर शङ्का करते हैं -

नार्थविशेषप्राबल्यात् ॥ ३९ ॥ (४५८)

क्षुदादिभिःप्रवर्त्तनाच्च ॥ ४० ॥ (४५९)

पू०-अर्थविशेषों की प्रबलता से तथा भूख आदि की प्रवृत्ति से (समाधि) नहीं होसकती ॥

इन्द्रियों के अर्थ ऐसे प्रबल हैं कि जो उन को ग्रहण करना नहीं चाहता वह भी उन से बच नहीं सकता। यदि किसी प्रकार कोई कृत्रिम दृश्यों से अपने मन को हटा भी लेवे (यद्यपि यह भी दुष्कर है) तथापि स्वाभा-

विक दूसरों से तो वह किसी प्रकार नहीं बच सकता। भूख प्यास शीत, आतप और रोग आदि ही उस के मन को चलायमान करने के लिये पर्याप्त हैं, इस दशा में समाधि की सिद्धि किस प्रकार हो सकती है?

अब इस का समाधान करते हैं:-

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ॥ ४१ ॥ (४६०)

भा०-पूर्वकृत फल के लगाव से उस (समाधि) की उत्पत्ति होती है।

समाधि की सिद्धि कुछ एक ही जन्म के अभ्यास से नहीं होती किन्तु अनेक जन्मों के शुभसंस्कार और अभ्यास इस में कारण हैं। यदि अभ्यास निष्फल होता तो लोक में उस का इतना आदर न किया जाता। जब लौकिक कार्यों के भी विघ्नों को दूर करने की शक्ति अभ्यास में है, तब पारमार्थिक कार्यों में इस की शक्ति क्योंकर कुण्ठित हो सकती है?

अब योगाभ्यास का स्थान बतलाते हैं-

अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ॥ ४२ ॥ (४६१)

वन, गुफा और नदीतीर आदि स्थानों में योगाभ्यास का उपदेश (किया जाता है)।

विविक्त स्थानों में ही योग का अभ्यास हो सकता है, जब पूर्व संस्कार और वर्तमान के अभ्यास से तत्त्वज्ञान की उत्कट जिज्ञासा होती है तब समाधि भावना के बढ़ने से योग की सिद्धि होती है। अब शङ्का करते हैं-

अपवर्गेऽप्येवं प्रसङ्गः ॥ ४३ ॥ (४६२)

मोक्ष में भी ऐसा ही प्रसङ्ग होगा।

जैसे लोक में कोई अपने को बाह्य अर्थों से नहीं बचा सकता, ऐसे ही मोक्ष में भी इन्द्रिय अर्थों से संयुक्त होकर बुद्धि को विचलित करेंगे।

अब दो सूत्रों में इस का समाधान करते हैं:-

न, निष्पन्नावश्यम्भावित्वात् ॥ ४४ ॥ (४६३)

तदभावश्चापवर्गे ॥ ४५ ॥ (४६४)

शरीरादि से (तो) तत्त्वज्ञान के अवश्यम्भावी होने से ऐसा नहीं हो सकता, परन्तु अपवर्ग में तो उस (शरीर) का अभाव हो जाता है।

इन दोनो सूत्रो का तात्पर्य यह है कि शरीरादि के होते हुवे तो कोई अपने को सर्वथा वाह्य ज्ञान की उपलब्धि से नहीं बचा सकता । परन्तु मोक्ष में तो इस स्थूल शरीर का, जो चेष्टा और इन्द्रियार्थों का आयतन है, अभाव हो जाता है, अतएव मोक्ष मे इन का प्रसङ्ग नहीं होसकता क्योंकि जब आधार ही नहीं तो आधेय कहां रह सकता है ॥

अब मोक्ष प्राप्ति के साधन दिखलाते हैः—

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारोयोगाच्चा-ध्यात्मविध्युपायैः ॥ ४६ ॥ (४६५)

उ०-उस (मोक्ष) के लिये यम और नियमों से तथा अध्यात्मविधि के उपायो द्वारा योग से आत्मा का संस्कार करना चाहिये ॥

योग के आठ अङ्ग है, जिन का निरूपण योग शास्त्र के साधन पाद में किया गया है, उन मे से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम पहिला अङ्ग हैं । और शौच, सन्तोष, तपस्, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान ये पाच नियम दूसरा अङ्ग कहलाते हैं । मुमुक्षु को प्रथम इन के सेवन से आत्मा का संस्कार करना चाहिये अर्थात् योग के प्रतिबन्ध मल, विक्षेप और आवरण को दूर करना चाहिये । तत्पश्चात् योग अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि से अध्यात्मतत्त्व को प्राप्त होना चाहिये ॥ मुमुक्षु को फिर क्या करना चाहिये –

ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः ॥ ४७ ॥ (४६६)

उ०-ज्ञान के ग्रहण का अभ्यास और उस के जानने वालों के साथ संवाद ॥

उक्त साधनो के अतिरिक्त मोक्ष की प्राप्ति के लिये मुमुक्षु को अध्ययन, श्रवण और मनन के द्वारा तत्त्वज्ञान का निरन्तर अभ्यास और बुद्धि के परिपाक के लिये तत्त्वज्ञानियो के साथ संवाद भी करना चाहिये क्योंकि विना अभ्यास के ज्ञान की वृद्धि और विना संवाद के बुद्धि की परिपक्वता और सन्देहों की निवृत्ति नहीं हो सकती ॥ अब संवाद का प्रकार दिखलाते हैं –

तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थिभि-रनसूयिभिरभ्युपेयात् ॥ ४८ ॥ (४६७)

उस (आत्मज्ञ) को विशिष्ट ज्ञानी, श्रेयोऽर्थी और निन्दारहित शिष्य, गुरु और सहाध्यायी के द्वारा प्राप्त करे ॥

बिना आत्मतत्त्ववित् आचार्य की दीक्षा के कोई आत्मज्ञान का लाभ नहीं कर सकता अतएव अनिन्दित गुरु, शिष्य और सहाध्यायियों के साथ ऐसे आचार्य की सेवा में विनीत भाव से जाना चाहिये उपनिषद् भी कहती है-तद्गुरुमेवाभिगच्छेत्—श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् । इत्यादि ॥

पुनः इसी का प्रतिपादन करते हैं —

प्रतिपक्षहीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे ॥४९॥ (४६८)

तत्त्व की जिज्ञासा होने पर अपने प्रयोजन के लिये प्रतिपक्षहीन होकर प्राप्त होवे ॥

जिज्ञासु को किसी पक्ष का आग्रह न होना चाहिये । किन्तु निर्मत्सर होकर किसी पक्ष का स्थापन न करता हुआ तत्त्व का निर्णय करे क्योंकि अपने पक्ष का आग्रह होने से मनुष्य न्याय का उल्लङ्घन कर जाता है ॥

तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोह
संरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत् ॥५०॥ (४६९)

जैसे बीजाङ्कुर की रक्षा के लिये कण्टक शाखाओं का आवरण किया जाता है वैसे ही तत्त्वनिर्णय की रक्षा के लिये जल्प और वितण्डा हैं ॥

जल्प और वितण्डा का लक्षण प्रथमाध्याय में कह चुके हैं । जिज्ञासु को मत्सरता और हठ से कभी इन का आश्रय न लेना चाहिये, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर तत्त्व की रक्षा के लिये (जैसे खेत की रक्षा के लिये कांटों की बाड़ लगा देते हैं ।) इन का प्रयोग करना चाहिये ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

समाप्तश्चायमध्यायः ॥ ४ ॥

प्रथम अध्याय में साधर्म्य और वैधर्म्य के प्रत्यवस्थान के विकल्प से जाति और निग्रह स्थान का बहुत्व प्रतिपादन कर चुके हैं, अब इस पांचवें अध्याय में इन दोनों का विस्तार से विभाग करते हैं। पहिले आह्निक में जाति का विभाग किया जाता है। जाति के निम्नलिखित चौबीस भेद हैं:—

साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमाः ॥ ॥ १ ॥ (४७०)

१-साधर्म्यसम, २-वैधर्म्यसम, ३-उत्कर्षसम, ४-अपकर्षसम, ५ वर्ण्यसम, ६-अवर्ण्यसम, ७-विकल्पसम, ८-साध्यसम, ९ प्राप्तिसम, १०-अप्राप्तिसम, ११-प्रसङ्गसम, १२-प्रतिदृष्टान्तसम, १३-अनुत्पत्तिसम, १४-संशयसम, १५-प्रकरणसम, १६-हेतुसम १७-अर्थापत्तिसम, १८-अविशेषसम, १९-उपपत्तिसम, २०-उपलब्धिसम, २१-अनुपलब्धिसम, २२-नित्यसम, २३-अनित्यसम, और २४—कार्यसम ॥

ये चौबीस जाति के भेद हैं, इन के पृथक् २ लक्षण और उदाहरण आगे आवेंगे। इन जातिभेदों के द्वारा प्रतिपक्षी के स्थापनाहेतुओं का प्रतिषेध किया जाता है॥ अब साधर्म्यसम और और वैधर्म्यसम का लक्षण कहते हैं —

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्यवैधर्म्यसमौ ॥ २ ॥ (४७१)

साधर्म्य तथा वैधर्म्य से साध्य के उपसंहार करने पर तद्धर्मव्यतिक्रम की उपपत्ति होने से साधर्म्यसम और वैधर्म्यसम (जातिभेद उत्पन्न होते हैं)

साधर्म्यसम का निदर्शन यह है कि आत्मा क्रियावान् है, यह किसी की प्रतिज्ञा है, क्रिया और गुण के योग होने से, यह हेतु है, जैसे मृत्पिण्ड, यह उदाहरण है, जैसे लोष्ट द्रव्य होने से क्रियावान् है, ऐसे ही आत्मा भी द्रव्य होने से क्रियावान् है, ऐसा उपसंहार करने पर दूसरा साधर्म्य से ही इस का प्रत्यवस्थान करता है, जो इस प्रकार है —आत्मा निष्क्रिय है, यह प्रतिज्ञा हुई, विभु होने से, यह हेतु है, जैसे आकाश, यह उदाहरण है, जैसे आकाश विभु होने से क्रियारहित है, ऐसे ही आत्मा भी विभु होने से निष्क्रिय है

पहिले निदर्शन में क्रियावान् मृत्पिण्ड के साधर्म्य से आत्मा को भी क्रियावान् होना चाहिये, दूसरे में क्रियाशून्य आकाश के साधर्म्य से आत्मा को भी निष्क्रिय होना चाहिये, इन दोनों में विशेष हेतु के अभाव से साधर्म्यसम प्रतिषेध होता है। अब वैधर्म्यसम का दृष्टान्त देते हैं–क्रियागुणयुक्त मृत्पिण्ड परिच्छिन्न देखा जाता है, पर आत्मा वैसा नहीं है, इस लिये मृत्पिण्ड के समान आत्मा क्रियावान् नहीं है ऐसा उपसंहार करने पर दूसरा वैधर्म्य से इस का प्रत्याख्यान करता है–विभु आकाश क्रिया (चेष्टा) रहित देखा जाता है पर आत्मा ऐसा नहीं है, इस लिये आकाश के समान आत्मा निष्क्रिय नहीं है यह दोनों में विशेष हेतु के न होने से वैधर्म्यसम प्रतिषेध हुआ। इन दोनों का उत्तरः–

गोत्वाद्गोसिद्धिवत्तत्सिद्धिः ॥ ३ ॥ (४७२)

सू०—गोत्व से गोसिद्धिवत् उस की सिद्धि होगी ॥

केवल साधर्म्य अथवा केवल वैधर्म्य से साध्य के सिद्ध करने में अव्यवस्था उत्पन्न होती है। गोत्वरूप जातिविशेष से गौ की सिद्धि होती है, न कि पुच्छ और विषाण आदि के सम्बन्ध से अतः प्रत्येक व्यक्ति की सिद्धि में उस की जाति (सत्ता) ही मुख्यकारण है न कि बाह्य चिह्न।

अब ३–उत्कर्षसम ४–अपकर्षसम ५–वर्ण्यसम ६–अवर्ण्यसम, ७ विकल्पसम, और ८ साध्यसम का लक्षण कहते हैं:—

साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षा
पकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमाः ॥ ४ ॥ (४७३)

साध्य और दृष्टान्त के धर्मविकल्प से दोनों प्रकार से सिद्ध होने वाले ये छहों प्रतिषेध होते हैं ॥

दृष्टान्तधर्म को साध्य के साथ जो मिलाता है उसे उत्कर्षसम कहते हैं। जैसे यदि मृत्पिण्ड के समान आत्मा भी क्रियावान् हो तो उस ही के समान स्पर्शवान् भी क्यों नहीं? यदि स्पर्शवान् नहीं तो क्रियावान् भी नहीं हो सकता। साध्य में दृष्टान्त से धर्म के अभाव को जो कहता है, उसे अपकर्षसम कहते हैं। जैसे–क्रियावान् लोष्ठ अविभु देखा गया है, यदि आत्मा भी क्रियावान् है तो वह भी अविभु होना चाहिये। ख्यापनीय वर्ण्यसम और अख्यापनीय अवर्ण्यसम कहलाता है। ये दोनों साध्य और दृष्टान्त के धर्म हैं। साधनधर्मयुक्त दृष्टान्त में धर्मान्तर के विकल्प से साध्यधर्म के विकल्प

का प्रसङ्ग कराने वाले को विकल्पसम कहते हैं । जैसे-क्रियावान् वस्तु कोई भारी होता है, जैसा लोष्ट और कोई हलका होता है, जैसा वायु, ऐसे ही क्रियावान् कोई परिछिन्न हो सकता है जैसे-लोष्ट और कोई विभु हो सकता है जैसे-आत्मा। साध्य का दृष्टान्त से प्रसङ्ग कराने वाले को साध्यसम कहते हैं । जैसे-यदि लोष्ट के समान आत्मा है तो आत्मा के समान लोष्ट भी होना चाहिये । यदि आत्मा का क्रियावान् होना साध्य है तो लोष्ट का भी साध्य है, अन्यथा जैसा लोष्ट वैसा आत्मा, यह हो नहीं सकता ॥

अब इन का समाधान करते हैं:—

किञ्चित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्वैधर्म्यादप्रतिषेधः ॥५॥ (४७४)

साध्य की सिद्धि से कुछ साधर्म्य के होने से वैधर्म्य के कारण प्रतिषेध युक्त नहीं ॥

सिद्ध वस्तु का छिपाना नहीं हो सकता, कुछ साधर्म्य के होने से उपमान की सिद्धि होती है । दृष्टान्त में दार्ष्टान्त के सारे धर्म नहीं मिल सकते, यदि सब मिल जाय तो फिर वह दृष्टान्त ही नहीं कहला सकता, अतएव वैधर्म्य से साध्य की सिद्धि में दूषण देना ठीक नहीं ॥

दूसरा समाधान करते हैं –

साध्यातिदेशाच्च दृष्टान्तोपपत्तेः ॥ ६ ॥ (४७५)

साध्य के अतिदेश से भी दृष्टान्त की उपपत्ति होती है ॥

उ०- दृष्टान्त में साध्य के एकदेश का अतिदेश किया जाता है, नकि सब अङ्गों का और इसी लिये वह दृष्टान्त कहलाता है, अन्यथा सब अङ्गों के मिलने से तो फिर उस में और साध्य में कुछ भेद नहीं रहता, इस लिये साध्यसम प्रतिषेध अयुक्त है ॥

अब प्राप्त्यसम और अप्राप्त्यसम का लक्षण कहते हैं –

प्राप्य साध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्त्या अविशिष्टत्वादप्राप्त्या असाधकत्वाच्च प्राप्त्यप्राप्तिसमौ ॥ ७ ॥ (४७६)

पू०–प्राप्ति में विशेषता न होने से हेतु के साध्य को पाकर सिद्ध करने का नाम प्राप्त्यसम और अप्राप्ति में साधक न होने से साध्य को न पाकर सिद्ध करने वाला प्रतिषेध अप्राप्त्यसम कहलाता है ॥

हेतु साध्य को पाकर सिद्ध करता है वा न पाकर ? । यह प्रश्न है । यदि कहो कि पाकर, तो दोनों की विद्यमानता में कौन किस का साधक और

कौन किस का साध्य है यह अव्यवस्था होगी । यदि कहो न पाकर, तो बिना प्राप्ति के साध्य साधक भाव हो नहीं सकता, जैसे दीपक जहां नहीं है, वहां अपना प्रकाश नहीं कर सकता । इस का तात्पर्य यह है कि प्राप्ति से खण्डन करना प्राप्त्यसम और अप्राप्ति से खण्डन करना अप्राप्त्यसम कहाता है ॥

अब इस का उत्तर देते हैं:-

घटादिनिष्पत्तिदर्शनात् पीडने चाभिचारादप्रतिषेधः ॥ (४७७)

उ०-घटादि की निष्पत्ति देखने से और अभिचार से पीड़ा होने पर निषेध अयुक्त है ॥

दोनों प्रकार के प्रतिषेध अयुक्त हैं क्योंकि कहीं हेत्वादि की प्राप्ति से साध्य की सिद्धि होती है और कहीं अप्राप्ति से । प्राप्ति से जैसे कर्त्ता, करण और अधिकरण ये तीनों मिलकर घटादि कार्य को सिद्ध करते हैं । अप्राप्ति से जैसे अभिचार (गुप्तरीति से) किसी को पीड़ा पहुंचाने पर वह हेतु को न देखता हुआ वा न जानता हुआ भी पीड़ा का अनुभव करता है । यह अप्राप्त हेतु से साध्य की सिद्धि है, अतः प्राप्त्यसम और अप्राप्त्यसम प्रतिषेध अयुक्त है ॥ अब प्रसङ्गसम और प्रतिदृष्टान्तसम का लक्षण कहते हैं:-

दृष्टान्तस्य कारणाऽनपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टान्तेन प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमौ ॥ ९ ॥ (४७८)

पू० दृष्टान्त के कारण के अनपदेश से और प्रतिदृष्टान्त से खण्डन होने से क्रम प्रसङ्गसम और प्रतिदृष्टान्तसम (प्रतिषेध होते हैं) ॥

प्रसङ्ग में खण्डन करना प्रसङ्गसम प्रतिषेध कहलाता है । जैसे-" क्रियावान् लोष्ट है " इस प्रतिज्ञा की सिद्धि में जो यह हेतु दिया था कि 'क्रिया गुणयुक्त होने से " यह हेतु पर्याप्त नहीं क्योंकि क्रियागुणयुक्त होना लोष्ट का साध्य है फिर उसी को हेतु कैसे मान सकते हैं ? प्रतिदृष्टान्त से खण्डन करना प्रतिदृष्टान्तसम कहलाता है । जैसे-"आत्मा क्रियावान् है" इस प्रतिज्ञा की सिद्धि में " क्रियागुणयुक्त होने से, लोष्ट के समान" इस हेतु और दृष्टान्त के देने पर प्रतिवादी प्रतिदृष्टान्त से इस का खण्डन करता है कि आकाश क्रियागुणयुक्त है परन्तु निष्क्रिय है ॥ अब प्रसङ्गसम का उत्तर देते हैं:-

प्रदीपादानप्रसङ्गनिवृत्तिवत्तद्विनिवृत्तिः ॥ १० ॥ (४७९)

उ०-प्रदीप के ग्रहण करने में जैसे प्रसङ्ग की निवृत्ति होती है, वैसे ही इस की निवृत्ति (भी हो जायगी) ॥

अज्ञात के ज्ञापनार्थ दृष्टान्त का प्रयोग किया जाता है, उस में कारण का व्यपदेश निरपेक्ष है। जैसे दृश्य के देखने के लिये दीपक का प्रयोग किया जाता है, इस पर यदि कोई कहने लगे कि जब तक दीपक का कारण सिद्ध न हो जायगा, तब तक दीपक से दृश्य रूप साध्य की सिद्धि अर्थात् दर्शनलाभ को मैं नहीं मानूंगा। जैसा यह कथन असङ्गत है वैसे ही दृष्टान्त में कारण का व्यपदेश चाहना निरर्थक है, क्योंकि जब लौकिक और परीक्षक दोनों को समझाने के लिये दृष्टान्त काम में लाया जाता है, तब वह स्वयं सिद्ध है, उस को साध्य मान कर उस के कारण के अनपदेश का उपालम्भ देना व्यर्थ है ॥ अब प्रतिदृष्टान्तसम का उत्तर देते हैं.-

प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे च नाहेतुर्दृष्टान्तः ॥ ११ ॥ (४८०)

उ०-प्रतिदृष्टान्त के हेतुत्व में दृष्टान्त अहेतु नहीं है ॥

दृष्टान्त के खण्डन में प्रतिदृष्टान्त दिया जाता है, जब दृष्टान्त साध्य का साधक नहीं तो प्रतिदृष्टान्त उस का बाधक कैसे हो सकता है और न प्रतिवादी ने प्रतिदृष्टान्त के साधक होने में कोई विशेष हेतु दिया, अतएव वही प्रश्न जो दृष्टान्त पर किया गया है, इस प्रतिदृष्टान्त पर भी कर सकते हैं ॥

अथ अनुत्पत्तिसम का लक्षण कहते हैं.-

प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादनुत्पत्तिसमः ॥ १२ ॥ (४८१)

पू०-उत्पत्ति के पूर्व कारण के अभाव से अनुत्पत्तिसम प्रतिषेध होता है॥

अनुत्पत्ति से खण्डन करना अनुत्पत्तिसम प्रतिषेध कहलाता है। जैसे-वादी ने प्रतिज्ञा की कि "शब्द अनित्य है" इस पर हेतु यह दिया कि "प्रयत्न की आवश्यकता होने से" दृष्टान्त यह दिया कि "घट के समान" अब इस पर प्रतिवादी कहता है कि उत्पत्ति से पूर्व अनुत्पन्न शब्द में प्रयत्न की आवश्यकता जो अनित्यता का हेतु है, नहीं है, उस के अभाव से नित्यत्व प्राप्त हुआ और नित्य की उत्पत्ति हो नहीं सकती, इस प्रकार अनुत्पत्ति से खण्डन करना अनुत्पत्तिसम कहलाता है ॥ अब इस का उत्तर देते हैं -

तथाभावादुत्पन्नस्य कारणोपपत्तेर्नकारणप्रतिषेधः १३ (४८२)

पू०-उत्पन्न के पैदा होने से तथा उस में कारण की उत्पत्ति होने से कारण का निषेध नहीं हो सकता ॥

उत्पन्न होकर ही शब्द कहलाता है, उत्पत्ति से पूर्व जब शब्द ही नहीं है, तब अनुत्पत्ति को कारण मान कर उस का खण्डन करना अयुक्त है। तात्पर्य यह है कि प्रयत्न की आवश्यकता (जो अनित्यता का हेतु है) तब से तभी सम्बद्ध हो सकती है जब कि वह उत्पन्न होकर शब्द बन जावे और जब शब्द उत्पन्न ही नहीं हुआ है तब उत्पत्ति के पूर्व कारण का अभाव मान कर दूषण देना ठीक नहीं ॥ अब संशयसम का लक्षण कहते हैं-

सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वे समाने नित्या
नित्यसाधर्म्यात् संशयसम ॥ १४ ॥ (४८३)

पू०-सामान्य और दृष्टान्त में ऐन्द्रियकत्व धर्म समान है अतः नित्य और अनित्य के साधर्म्य से संशयसम प्रतिषेध (होता है) ॥

संशय से जिस का खण्डन किया जाय वह संशयसम कहाता है। जैसे- " शब्द अनित्य है, प्रयत्न की आवश्यकता होने से, घट के समान " इस प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त के देने पर प्रतिवादी हेतु में यह संशय करता है कि प्रयत्न की आवश्यकता रहते हुये भी उस का नित्य सामान्य के साथ और अनित्य घट के साथ ऐन्द्रियकत्वरूप साधर्म्य है, इस लिये नित्य और अनित्य के साधर्म्य से संशय होता है ॥ अब इस का उत्तर देते हैं:-

साधर्म्यात्संशये न संशयो वैधर्म्यादुभयथा वा संशयोऽत्यन्त
संशयप्रसङ्गो नित्यत्वानभ्युपगमाच्च सामान्यस्याप्रतिषेधः ॥
॥ १५ ॥ (४८४)

उ०-साधर्म्य से संशय होने पर (भी) वैधर्म्य से संशय नहीं रहता, यदि दोनों प्रकार से संशय (माना जावे तो) अत्यन्त संशय का प्रसङ्ग (होता है) नित्यत्व के अनभ्युपगम से भी सामान्य का निषेध नहीं होता॥

जैसे विशेष वैधर्म्य से पुरुष का निश्चय हो जाने पर स्थाणु और पुरुष के साधर्म्य से संशय को अवकाश नहीं रहता। ऐसे ही विशेष वैधर्म्य से शब्द के अनित्य सिद्ध हो जाने पर नित्य और अनित्य के सामान्य साधर्म्य से भी संशय की उपपत्ति नहीं होती यदि हो तो साधर्म्य के अभाव न होने

से अत्यन्त संशय की प्राप्ति होती है, विशेष का ज्ञान होने पर नित्य का साधर्म्य संशय का हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि पुरुष का ज्ञान हुवे पश्चात् स्थाणु और पुरुष का साधर्म्य सन्देह का हेतु नहीं होता ॥

अब प्रकरणसम का लक्षण कहते हैं:—

उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः ॥ १६ ॥ (४८५)

पू०—दोनों के साधर्म्य से प्रक्रिया की सिद्धि (होने पर) प्रकरणसम (होता है) ॥

पक्ष और प्रतिपक्ष की प्रवृत्ति को प्रक्रिया कहते हैं और वह नित्य और अनित्य के साधर्म्य से सिद्ध होती है, जिस से कि प्रकरणसम की उत्पत्ति होती है अर्थात् एक पक्ष घट के साधर्म्य से शब्द को अनित्य सिद्ध करता है, दूसरा नित्य के साधर्म्य से उसी को नित्य सिद्ध करता है, इसी प्रकार नित्य और अनित्य के वैधर्म्य से भी प्रकरणसम की उत्पत्ति होती है, तात्पर्य यह है कि प्रकरण का आश्रय लेकर खण्डन करना प्रकरणसम कहाता है ॥

अब इस का उत्तर देते हैं —

प्रतिपक्षात् प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः प्रतिपक्षोपपत्तेः ॥ १७ ॥ (४८६)

उ०—प्रतिपक्ष से प्रकरणसिद्धि होने पर प्रतिपक्ष की उपपत्ति होने से प्रतिषेध नहीं हो सकता ॥

यदि दोनों के साधर्म्य से प्रकरण की सिद्धि होती है तो प्रकरणसिद्धि में प्रतिपक्ष कारण हुआ और जब प्रतिपक्ष कारण है तो फिर निषेध हो नहीं सकता क्योंकि प्रतिपक्ष और प्रतिषेध इन दोनों की एक साथ उपपत्ति हो नहीं सकती, अतः तत्त्व के अनवधारण से प्रकरणसिद्धि होती है, तत्त्व के निश्चय होने पर प्रकरण समाप्त हो जाता है ॥ अब अहेतुसम का लक्षण कहते हैं:—

त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः ॥ १८ ॥ (४८७)

पू०—हेतु के तीनों कालों में असिद्ध होने से अहेतुसम होता है ॥

हेतु नाम साधन का है वह साध्य के पहिले होता है वा पीछे या साथ२? यदि कहो कि पहिले होता है तो साध्य के अभाव में वह साधन किस का था? और यदि पीछे होना मानो तो साधन के अभाव में वह साध्य किस का होगा? यदि दोनों का साथ २ होना मानोगे तो दोनों के विद्यमान

होने पर कौन किस का साधन और कौन किस का साध्य कहावेगा ? इस प्रकार हेतु की तीनों काल में असिद्धि होने से अहेतुसम प्रत्यवस्थान उत्पन्न होगा ॥ अब इस का उत्तर देते हैं —

न, हेतुतः साध्यसिद्धेस्त्रैकाल्यासिद्धिः ॥ १९ ॥ (४८८)

उ० हेतु से साध्य की सिद्धि होने से तीनों काल में (उस की) असिद्धि नहीं हो सकती ॥

जब कोई भी कार्य बिना कारण के और कोई भी साध्य बिना साधन के सिद्ध नहीं होता तब हेतु की त्रैकाल्यासिद्धि कैसे हो सकती है ? और जो प्रतिवादी ने यह कहा था कि साध्य के अभाव में किस का साधन होगा ? इस का उत्तर यह है कि जो बनता है और जो जाना जाता है वही साध्य है और उसी का बनाने वाला और जनाने वाला हेतु (साधन) हुआ करता है ॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैं —

प्रतिषेधानुपपत्तेः प्रतिषेद्धव्याप्रतिषेधः ॥२०॥ (४८९)

उ०—निषेध की अनुपपत्ति होने से निषेद्धव्य का निषेध नहीं होसकता ॥

हेतु से साध्य की सिद्धि होना यह प्रतिवादी का निषेद्धव्य विषय है और इस के खण्डन में वह " हेतोस्त्रैकाल्यासिद्धेः " यह हेतु देता है । भाई ! तुम्हारा तो पक्ष यह था कि हेतु साध्य की सिद्धि में असमर्थ है, फिर अपने कथन की पुष्टि में तुम उसी असमर्थ हेतु का आश्रय लेते हो यह वदतोव्याघात नहीं तो और क्या है ? जब दूसरे का हेतु तुम्हारी दृष्टि में उस के पक्ष को सिद्ध नहीं करता तो तुम्हारा हेतु तुम्हारे कथन को कैसे सिद्ध करेगा ? अतः निषेध अनुपपन्न है ॥ अब अर्थापत्तिसम का लक्षण कहते हैं :—

अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमः ॥२१॥ (४९०)

पू० अर्थापत्ति से प्रतिपक्ष की सिद्धि होने पर अर्थापत्तिसम प्रत्यवस्थान होता है ॥

एक बात के कहने से दूसरी बात की प्रतिपत्ति होना अर्थापत्ति कहलाती है उस अर्थापत्ति से प्रतिपक्ष की सिद्धि होने पर अर्थापत्तिसम की उत्पत्ति होती है । जैसे किसी ने कहा कि "उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है " दूसरा अर्थापत्ति से इस का निषेध करता है—" अनुत्पन्न होने से शब्द नित्य है " ॥ अब इस का उत्तर देते हैं :—

अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वा-
दनैकान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः ॥ २२ ॥ (४९१)

उ०-अर्थापत्ति के अनुक्त और अनैकान्तिक होने से अनुक्त की अर्थापत्ति से पक्षहानि को प्राप्त होती है ॥

सामर्थ्य का प्रतिपादन न करके यह कहना कि " अनुक्त की अर्थ से आपत्ति होती है " स्वपक्ष हानि को सूचित करता है " उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है" इस का अर्थापत्ति से यह तात्पर्य निकालना कि "अस्पर्श होने से शब्द नित्य है" ऐसा ही है जैसा कि " कठिन पत्थर पतनशील है " इस का कोई यह तात्पर्य निकाले कि द्रवीभूत जल में पतन का अभाव है, अतः अर्थापत्ति के अनुक्त और अनैकान्तिक होने से अर्थापत्तिसम प्रत्यवस्थान ठीक नहीं ॥ अब अविशेषसम का लक्षण कहते हैं.-

एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसङ्गात्
सद्भावोपपत्तेरविशेषसमः ॥ २३ ॥ (४९२)

पू०- अविशेष में एक धर्म की उपपत्ति होने से सब में समता का प्रसङ्ग होने पर सामान्य भाव की उपपत्ति से अविशेषसम होता है ॥

शब्द और घट में उत्पन्न होना रूप एक धर्म पाया जाता है तब इन दोनों के अनित्यत्व में अविशेषता हुई, जिस से अविशेषसम प्रत्यवस्थान की उत्पत्ति होती है ॥ अब इस का उत्तर देते हैं:-

क्वचिद्धर्मानुपपत्तेः क्वचिच्चोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ॥२४॥ (४९३)

उ०-कहीं धर्म की अनुपपत्ति और कहीं उपपत्ति होने से निषेध का अभाव है ॥

उस एक धर्म की कहीं उपपत्ति होती है जैसे कि घट उत्पत्तिमान् है तो शब्द भी उत्पन्न होता है। कहीं नहीं होती, जैसे कि घट स्पर्शवान् है पर शब्द नहीं, अतः अविशेषता के अनैकान्तिक होने से अविशेषसम प्रतिषेध का अभाव है ॥ अब उपपत्तिसम का लक्षण कहते हैं:-

उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः ॥ २५ ॥ (४९४)

पू०-दोनों कारणों की उपपत्ति होने से उपपत्तिसम होता है ॥

यदि उत्पन्न होना रूप शब्द के अनित्यत्व का कारण मिलता है तो अस्पर्शत्व रूप उस के नित्यत्व का भी कारण उपलब्ध होता है, अब इन दोनों

कारणों की उपपत्ति से उपपत्तिसम प्रत्यवस्थान प्रवृत्त होता है । अब इस का उत्तर देते हैं:-

उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादप्रतिषेध ॥ २६ ॥ (४९५)

उ०—उपपत्तिकारण के स्वीकार से निषेध नहीं हो सकता ।

दोनों कारणों की उपपत्ति को स्वीकार करते हुवे प्रतिवादी ने अनित्यत्व के कारण की उपपत्ति को भी मान लिया, फिर उस का निषेध क्योंकर हो सकता है ? यदि व्याघात से निषेध माना जावे तो व्याघात दोनों में तुल्य है, फिर दो में से एक की सिद्धि वह कैसे कर सकेगा ? अब उपलब्धिसम का लक्षण कहते हैं—

निर्दिष्टकारणाभावेऽप्युपलम्भादुपलब्धिसम ॥ २७ ॥ (४९६)

पू०—निर्दिष्ट कारण के अभाव में भी साध्य की उपलब्धि से उपलब्धिसम होता है ।

प्रयत्नानन्तरत्व रूप निर्दिष्ट कारण के अभाव में भी वायुप्रेर्याहत वृक्ष शाखाभङ्ग से जो शब्द उत्पन्न होता है, उस में भी अनित्यत्वधर्म उपलब्ध होता है और यही उपलब्धिसम प्रत्यवस्थान है । अब इस का उत्तर देते हैं:-

कारणान्तरादपि तद्धर्मोपपत्तेरप्रतिषेध ॥२८॥ (४९७)

उ०—कारणान्तर से भी उस धर्म की उपपत्ति होने से निषेध नहीं हो सका ।

जब तुम्हारे ही कथनानुसार कारणान्तर से भी उत्पन्न शब्द में अनित्यता की उपपत्ति होती है फिर उस को जानकर निषेध कैसा ? उच्चारण के पूर्व अविद्यमान शब्द की उपलब्धि नहीं जैसे जलादि वस्तुओं की अनुपलब्धि आवरण आदि के कारण होती है वैसी शब्द की नहीं, अत जलादि से विपरीत शब्द अनुपलभ्यमान है ।

अब अनुपलब्धिसम का लक्षण कहते हैं:—

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धिसम ॥ २९ ॥ (४९८)

पू०—उस की अनुपलब्धि के ग्रहण न होने से अभाव की सिद्धि होने पर उस से विपरीत उपपत्ति से अनुपलब्धिसम होता है ।

नैयायिक शब्द को अनित्य मानते हैं और कहते हैं कि यदि शब्द नित्य होता तो उच्चारण के पूर्व उस की उपलब्धि क्यों नहीं होती? जैसे घटादि की उपलब्धि भित्त्यादि आवरण से नहीं होती, ऐसे शब्द का कोई आवरण नहीं है। इस पर प्रतिवादी कहता है कि यदि आवरण की अनुपलब्धि से आवरण का अभाव मानोगे तो आवरण की अनुपलब्धि के भी अनुपलम्भ से आवरण की अनुपलब्धि का भी अभाव मानना पड़ेगा, जिस से तद्विपरीत आवरण की उपपत्ति सिद्ध होजायगी। यह अनुपलब्धिसम प्रत्यवस्थान है॥

अब इस का उत्तर देते हैं -

अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः ॥ ३० ॥ (४९९)

उ०-अनुपलब्धि के अनुपलम्भात्मक होने से (उक्त हेतु) अहेतु है॥

"अनुपलब्धि के अनुपलम्भ से" यह हेतु निर्मूल है क्योंकि अनुपलब्धि स्वयं अनुपलम्भात्मक है। जो है उस की उपलब्धि होती है और जो नहीं है उन की सर्वथा अनुपलब्धि है, फिर उस अनुपलब्धि की अनुपलब्धि क्या होगी? भला कहीं भाव का भाव और अभाव का अभाव भी हो सकता है? कदापि नहीं। यदि आवरणादि विद्यमान हैं तो उन की उपलब्धि होनी चाहिये और यदि उन की उपलब्धि नहीं होती तो उन की अविद्यमानता सिद्ध है॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

ज्ञानविकल्पानाञ्च भावाभावसंवेदनादध्यात्मम् ॥३१॥ (५००)

उ०-आत्मा में ज्ञानविकल्पों के होने और न होने का अनुभव करने से (भी उक्त हेतु) अहेतु है॥

प्रत्येक मनुष्य के आत्मा में ज्ञानविकल्पों के होने और न होने का अनुभव होता रहता है। यथा-मैं घट को देखता हूं, अग्नि का अनुमान करता हूं, इत्यादि। इस प्रकार किसी को यह अनुभव नहीं होता कि मुझे शब्द के आवरण की अनुपलब्धि है अतः आत्मसंवेदनीय अर्थों से ग्राह्य होने के कारण शब्द के आवरण की कल्पना ठीक नहीं॥

अब अनित्यसम का लक्षण कहते हैं'-

साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसङ्गादनित्यसमः॥

पू०-साधर्म्य से तुल्य धर्म की उपपत्ति होने पर सब में अनित्यत्व के प्रसङ्ग होने से अनित्यसम प्रत्यवस्थान होता है॥ ३२॥ (५०१)

अनित्य घट के साधर्म्य से शब्द की अनित्यता को सिद्ध करने में सब की अनित्यता सिद्ध होगी क्योंकि सद्रूप घट के साथ सब भावों का साधर्म्य है अर्थात् घट सत् है तो आत्मा भी सत् है अतएव आत्मा में भी अनित्यता की आपत्ति होगी ॥ अब इस का उत्तर देते हैं:-

साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेधासिद्धिः प्रतिषेध्यसाधर्म्याच्च ॥

उ०-साधर्म्य से असिद्धि होने पर प्रतिषेध्य के साधर्म्य से भी निषेध की असिद्धि होगी ॥ ३३ ॥ (५७२)

जब तुम थोड़े से साधर्म्य से सब का साध्य होना सिद्ध करते हो तो तुम्हारा साधर्म्य असाधक हुआ फिर उस से किया हुआ प्रतिषेध क्योंकर सिद्ध हो सकता है क्योंकि वह भी तो प्रतिषेध्य के साधर्म्य से प्रवृत्त होता है अर्थात् जब तुम्हारी दृष्टि में कृतकत्व रूप साधर्म्य शब्द की अनित्यता का साधक नहीं है तो फिर सद्भाव रूप साधर्म्य जिसको लेकर तुम हमारा खण्डन करने में प्रवृत्त हुये हो, कैसे तुम्हारे पक्ष का साधक होगा ? पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

दृष्टान्ते च साध्यसाधनभावेन प्रज्ञातस्य धर्मस्य
हेतुत्वात्तस्य चोभयथाभावान्नाविशेषः ॥३४॥ (५७३)

उ० दृष्टान्त में जो धर्म साध्य साधन भाव से ज्ञात होता है, उस के हेतु तथा दोनों प्रकार से होने के कारण अविशेष नहीं ॥

दृष्टान्त में जो धर्म साध्य साधन भाव से जाना जाता है वह हेतु कहलाता है और वह दो प्रकार का होता है। किसी से समान और किसी से विशेष। समान से साधर्म्य और विशेष से वैधर्म्य होता है, अतः केवल साधर्म्य या केवल वैधर्म्य का आश्रय लेना ठीक नहीं क्योंकि ये दोनों सापेक्ष हैं ॥

अब नित्यसम का लक्षण कहते हैं:-

नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेर्नित्यसमः॥३५॥(५७४)

पू०-नित्य में अनित्य की और अनित्य में नित्य की भावना होने से नित्यसम प्रत्यवस्थान होता है ॥

"शब्द अनित्य है" यह जो प्रतिज्ञा की गई है उस में यह प्रष्टव्य है कि अनित्यत्व शब्द में नित्य है वा अनित्य ? यदि कहो कि नित्य है तो धर्म के नित्य होने से धर्मी शब्द भी नित्य होगा। और यदि अनित्य कहोगे तो भी अनित्यत्व के अभाव से शब्द नित्य सिद्ध होगा ॥

अब इस का उत्तर देते हैं.-

प्रतिषेध्ये नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ॥ ३६ ॥ (५०५)

उ०- प्रतिषेध्य (शब्द) में अनित्यत्व के नित्य होने से तथा अनित्य में नित्य की उपपत्ति होने से प्रतिषेध का अभाव है ॥

" शब्द में अनित्यता नित्य है " इस कथन से प्रतिवादी ने शब्द का अनित्य होना स्वीकार करलिया, फिर नित्यत्व की उपपत्ति से "शब्द अनित्य नहीं" यह निषेध युक्त नहीं है, क्योंकि जब शब्द मे अनित्यता नित्य है तो फिर उस में नित्यत्व की उपपत्ति कैसी ? और यदि शब्द में नित्य अनित्यता का स्वीकार न किया जावे तो भी हेतु के न होने से निषेध ठीक नहीं, अतः यह प्रश्न कि शब्द में अनित्यता नित्य है वा अनित्य ? अनुपपन्न है ॥

अब कार्यसम का लक्षण कहते हैं:-

प्रयत्नकार्यानेकत्वात्कार्यसमः ॥ ३७ ॥ (५०६)

पू०—प्रयत्नकार्य के अनेक प्रकार का होने से कार्यसम प्रत्यवस्थान होता है ॥

"प्रयत्न के आनन्तरीयकत्व से शब्द अनित्य है " इस प्रतिज्ञा मे जिस के प्रयत्न के अनन्तर जो कार्य होता है, वह न होकर होता है और विध्वंस होने के पश्चात् होकर नहीं रहता, तथा प्रयत्न के अनन्तर किन्हीं पदार्थों का स्वरूप लाभ होता और किन्हीं की अभिव्यक्ति होती है तो क्या प्रयत्न के अनन्तर शब्द के स्वरूप का लाभ होता है अथवा अभिव्यक्ति ? इस प्रकार प्रयत्नकार्य के अनेक प्रकार का होने से जो दूषण दिया जाता है उस को कार्यसम कहते हैं ॥

अब इस का उत्तर देते हैं -

कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः ॥३८॥ (५०७)

उ० -(शब्द के) कार्यभिन्न होने पर अनुपलब्धि कारण की उपपत्ति से प्रयत्न को हेतुत्व नहीं ॥

यदि शब्द को कार्य न माना जावे तो अनुपलब्धिकारण की उपपत्ति से उस की अभिव्यक्ति के लिये प्रयत्न कारण नहीं होसकता । जहां प्रयत्न के अनन्तर अभिव्यक्ति होती है, वहा अनुपलब्धि का कारण व्यवधान होता है, व्यवधान के हटाने से प्रयत्न के पश्चात होने वाले अर्थ की उपलब्धि रूप अभि-

व्यक्ति होती है । शब्द की अनुपलब्धि का कोई व्यवधान नहीं दीखता जिस के हटाने से शब्द की अभिव्यक्ति हो, इस लिये शब्द उत्पन्न होता है, न कि अभिव्यक्त, इस से सिद्ध है कि कार्यसम प्रत्यवस्थान अनैकान्तिक होने से असाधक है ॥ जातिभेद समाप्त हुवे, अब इन की समालोचना की जाती है:-

प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः ॥ ३९ ॥ (५०८)

प्रतिषेध में भी समान दोष है ॥

यदि अनैकान्तिक होने से कार्यसम असाधक है तो उस का खण्डन भी अनैकान्तिक होने से साधक नहीं होसकता क्योंकि वह किसी का निषेध करता है और किसी का नहीं करता । जैसे-शब्द के अनित्यत्व पक्ष में प्रयत्न के अनन्तर उत्पत्ति मानी गई है, अभिव्यक्ति नहीं ऐसे ही नित्यत्व पक्ष में प्रयत्न के पश्चात् अभिव्यक्ति मानी गई है, उत्पत्ति नहीं । दोनों में विशेष हेतु का अभाव है ॥ अनैकान्तिकत्व की सब में अतिव्याप्ति दिखलाते हैं:-

सर्वत्रैवम् ॥ ४० ॥ (५०९)

सर्वत्र ऐसा ही है ॥

केवल कार्यसम में ही यह अनैकान्तिकत्व दोष प्राप्त नहीं है किन्तु साधर्म्यसम आदि जो २४ जातिभेद कहेगये हैं, उन सब में इस की प्रसक्ति होती है ॥ प्रतिषेधों के खण्डन में भी इस की प्रवृत्ति होती है । यथा-

प्रतिषेधविप्रतिषेधे प्रतिषेधदोषवद्दोषः ॥ ४१ ॥ (५१०)

प्रतिषेध के विप्रतिषेध में भी प्रतिषेध के दोष के तुल्य दोष है ॥

खण्डन का खण्डन करने में भी अनैकान्तिकत्व दोष का प्रसङ्ग होता है । जैसे-"शब्द अनित्य है कार्य होने से" यह पहिला पक्ष हुवा । "कार्य के अनेकधा होने से इस में कार्यसम प्रत्यवस्थान उपस्थित होता है" यह दूसरा पक्ष है । "प्रतिषेध में भी समान दोष है" यह तीसरा पक्ष है । "प्रतिषेध के प्रतिषेध में भी वही दोष है" यह चौथा पक्ष है ॥ अब पांचवां पक्ष कहते हैं:-

प्रतिषेधं सदोषमभ्युपेत्य प्रतिषेधविप्रतिषेधे समानो दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ॥ ४२ ॥ (५११)

प्रतिषेध को दोषसहित मान कर खण्डन के खण्डन में समान दोष के प्रसङ्ग को "मतानुज्ञा" दोष आता है ॥

प्रतिषेध (दूसरे पक्ष) को सदोष मान कर और उस का उद्धार न करके खण्डन के खण्डन में (तीसरे पक्ष में) दोष देने में मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थान प्राप्त होता है, यह पाचवां पक्ष है ॥ अब छठा पक्ष कहते हैं—

स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहारे हेतुनिर्देशे परपक्षदोषाभ्युपगमात्समानो दोष इति ॥४३॥ (५१२)

अपने पक्ष में दोष की उपपत्ति को देखता हुवा हेतु के निर्देश से (परपक्ष का) उपसहार करने पर परपक्ष दोष के स्वीकार से समान दोष होता है॥

स्थापनारूप पहिला पक्ष अपना पक्ष है, उस में जब प्रतिषेधवादी ने द्वितीयपक्षरूप दोष दिया, उस का उद्धार न करके तृतीयपक्ष का आश्रय लेना अर्थात् प्रतिषेध में दूषण देना, यह भी अपना उद्धार न करके पराये दोष को ढूढने से मतानुज्ञा ही रही ॥

इन दोनो सूत्रों से सूत्रकार का आशय यह है कि वादी, प्रतिवादी दोनों को जहा तक हो सके अपने पक्ष का ही समाधान करना चाहिये, ऐसा न करके जो केवल परपक्ष के खण्डन में ही प्रवृत्त होते हैं वे उन दोषों को जो उन के पक्ष में लगाये गये हैं, स्वीकार कर लेने से मतानुज्ञा नाम निग्रह स्थान में जा पड़ते हैं। जैसे किसी को किसी ने चोरी का अपराध लगाया, वह उस का निवारण न करके उस को भी चोर सिद्ध करने लगे तो इस से उस के दोष का परिहार क्या हुवा ? किन्तु रूपान्तर से उस ने अपने दोष का स्वीकार कर लिया ॥

इति पञ्चमाध्यायस्याद्यमाह्निकम् ॥ १ ॥

अथ द्वितीयमाह्निकम्

विप्रतिपत्ति (विरुद्ध समझना) और अप्रतिपत्ति (न समझना) इन दोनों के विकल्प से अनेक पराजयसूचक निग्रहस्थान उत्पन्न होते हैं, यह प्रथमाऽध्याय मे कह चुके हैं। अब इस अन्तिम आह्निक में उन का विभाग, लक्षण और निरूपण किया जाता है। पहिले सूत्र में विभाग करते हैं—

प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासन्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थ-

कमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्य्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि ॥ १ ॥ (५१३)

१-प्रतिज्ञाहानि। २-प्रतिज्ञान्तर। ३-प्रतिज्ञाविरोध। ४-प्रतिज्ञासंन्यास। ५-हेत्वन्तर। ६-अर्थान्तर। ७-निरर्थक। ८-अविज्ञातार्थ। ९-अपार्थक। १०-अप्राप्तकाल। ११-न्यून। १२-अधिक। १३-पुनरुक्त। १४-अननुभाषण। १५-अज्ञान। १६-अप्रतिभा। १७-विक्षेप। १८ मतानुज्ञा। १९-पर्य्यनुयोज्योपेक्षण। २०-निरनुयोज्यानुयोग। २१-अपसिद्धान्त, ये २१ और ५ हेत्वाभास ये सब २६ निग्रहस्थान कहलाते हैं॥ अब प्रतिज्ञाहानि का लक्षण कहते हैं:-

प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानि ॥२॥ (५१४)

स्वपक्ष में परपक्ष के धर्म का स्वीकार करना प्रतिज्ञाहानि कहलाती है॥

अपना पक्ष जो स्थापन किया था, उस को छोड़कर परपक्ष को स्वीकार करलेना प्रतिज्ञाहानि नामक निग्रहस्थान कहलाता है-

जैसे किसी ने प्रतिज्ञा की कि "इन्द्रिय का विषय होने से घट के समान शब्द अनित्य है" इस पर प्रतिपक्षी कहता है कि "सामान्य (जाति) भी इन्द्रिय का विषय है और वह नित्य है, ऐसे ही शब्द भी नित्य रहेगा।" इस पर वादी कहने लगे कि "जो जाति नित्य है तो घट भी नित्य हो" यहां प्रतिपक्षी के पक्ष का स्वीकार और अपने पक्ष का त्याग करने से प्रतिज्ञाहानि नामक निग्रहस्थान होता है॥ अब प्रतिज्ञान्तर का लक्षण कहते हैं:-

प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्द्देशः प्रतिज्ञान्तरम् ॥ ३ ॥ (५१५)

प्रतिज्ञात अर्थ के प्रतिषेध होने पर धर्म के विकल्प से उस के अर्थ के निर्द्देश को प्रतिज्ञान्तर कहते हैं॥

"शब्द अनित्य है, घट के समान, इन्द्रिय का विषय होने से" यह प्रतिज्ञात अर्थ है इस का जब प्रतिवादी ने निषेध किया कि जाति भी इन्द्रिय का विषय है पर वह नित्य है" इस प्रकार प्रतिज्ञात अर्थ का निषेध होने पर

धर्म के विकल्प से उस के अर्थ का निर्देश करना अर्थात् इन्द्रिय विषय जाति सर्वगत है, पर इन्द्रिय विषय घट सर्वगत नहीं, ऐसे ही शब्द भी सर्वगत न होने से घट की भांति अनित्य है। यहां पर "शब्द अनित्य है" यह पहिली प्रतिज्ञा थी, अब "शब्द सर्वगत नहीं" यह दूसरी प्रतिज्ञा होगई, बस इसी को प्रतिज्ञान्तर कहते हैं। प्रतिज्ञा के साधक हेतु और दृ ान्त होते हैं, न कि दूसरी प्रतिज्ञा, अतः अपनी पूर्व प्रतिज्ञा को हेतु और दृष्टान्त से सिद्ध न करके दूसरी प्रतिज्ञा करने वाला प्रतिज्ञान्तर रूप निग्रहस्थान में आपड़ता है

अब प्रतिज्ञाविरोध का लक्षण कहते हैं –

प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः ॥ ४ ॥ (५१६)

प्रतिज्ञा और हेतु के विरोध को प्रतिज्ञाविरोध कहते हैं ॥

" द्रव्य गुण से भिन्न है " यह प्रतिज्ञा है " रूपादिकों से अर्थान्तर की अनुपलब्धि होने से " यह हेतु है। यहां यह दोनो परस्परविरोधी हैं क्योंकि जो द्रव्य गुण से भिन्न है तो रूपादिकों से भिन्न अर्थ की अनुपलब्धि होना ठीक नहीं और जो रूपादिकों से भिन्न अर्थ की अनुपलब्धि हो तो गुण से भिन्न द्रव्य है यह कहना नहीं बन सकता। यहां प्रतिज्ञा और हेतु इन दोनों में विरोध होने से प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान होता है

अब प्रतिज्ञासन्यास का लक्षण कहते हैं —

पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः ॥५॥ (५१

पक्ष के खण्डित होने पर प्रतिज्ञात अर्थ का छोड़ देना प्रतिज्ञासंन्यास कहलाता है ॥

" शब्द अनित्य है इन्द्रियविषय होने से " ऐसी प्रतिज्ञा करने पर दूसरा कहे कि "जाति भी इन्द्रिय का विषय है, पर अनित्य नहीं, इसी प्रकार शब्द भी इन्द्रिय का विषय होने से अनित्य नहीं हो सकता"। इस प्रकार अपने पक्ष के खण्डित होने पर वादी कहने लगे कि "शब्द को अनित्य कौन कहता है ?" यह अपने प्रतिज्ञात अर्थ को छोड़ देना प्रतिज्ञासंन्यास नामक निग्रहस्थान कहलाता है ॥ अब हेत्वन्तर का लक्षण कहते हैं—

अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम्

॥ ६ ॥ (५१८)

जिस में अविशेष रूप से कहे हेतु के निषेध करने पर विशेष की इच्छा की जाय उस को हेत्वन्तर कहते हैं॥

"शब्द अनित्य है, बाह्येन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होने से" इस सामान्य हेतु का पूर्वोक्त रीति से खण्डन करने पर विशेष हेतु को चाहना अर्थात् उस हेतु में और कोई विशेषण लगाना हेत्वन्तर नामक निग्रहस्थान कहलाता है॥

अब अर्थान्तर का लक्षण कहते हैं –

प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम् ॥ ७ ॥ (५१९)

प्रकृत अर्थ से सम्बन्ध न रखने वाले अर्थ को अर्थान्तर कहते हैं॥

" शब्द अनित्य है, उत्पन्न होने से " यह कह कर कोई कहने लगे कि "शब्द गुण है और वह आकाश का है" यह प्रकृत अर्थ से सम्बन्ध न रखने वाला अर्थान्तर नामक निग्रहस्थान कहलाता है॥ अब निरर्थक का लक्षण कहते हैं:–

वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् ॥ ८ ॥ (५२०)

वर्णों के क्रमनिर्देश के समान जो है वह निरर्थक है॥

" कचटतप शब्द नित्य है, जबगडदशत्व से झभघढधष् के समान " यहां अभिधान और अभिधेय भाव के न होने से केवल निरर्थक वर्णों का निर्देश किया गया है, इस लिये यह निरर्थक नामक निग्रहस्थान है॥

अब अविज्ञातार्थ का लक्षण कहते हैं:–

परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम् ॥ ९ ॥ (५२१)

सभा और प्रतिवादी से तीन बार कहा गया भी जो नहीं जाना जाय वह अविज्ञातार्थ है॥

जो अर्थ वाद के समय सभा और प्रतिवादी से तीन बार समझाया हुआ भी वादी की समझ में न आवे अर्थात शीघ्र या अस्पष्ट उच्चारण किया जावे उस को अविज्ञातार्थ निग्रहस्थान कहते हैं॥ अब अपार्थक का लक्षण कहते हैं:–

पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम् ॥१०॥ (५२२)

पूर्वापर की सङ्गति न होने से जो असम्बद्ध अर्थ वाला है उस को अपार्थक कहते हैं॥

जिस कथन में अनेक पद और वाक्यों का पूर्वापर सम्बन्ध नहीं है, वह अर्थ के अभाव से अपार्थक कहलाता है। जैसे-दश दाडिम षट् अपूप

कुण्ड, अजा, अजिन, मांसपिण्ड इत्यादि असम्बद्ध प्रलाप है ॥

अब अप्राप्तकाल का लक्षण कहते हैं:-

अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् ॥११॥ (५२३)

अवयव के विपरीत वचन को अप्राप्तकाल कहते हैं ॥

प्रतिज्ञा आदि जो वाक्य के पांच अवयव कहे जा चुके हैं, वे क्रमपूर्वक ही प्रयोग किये गये पक्ष के साधक होते हैं। उन के क्रम का अनादर करके लौट पौट कर उन का प्रयोग करना अर्थात् पहिले प्रतिज्ञा के स्थान में निगमन करना और फिर उपनय, दृष्टान्त, हेतु और प्रतिज्ञा को कहना या इन को लौट फेर कर कहना अप्राप्तकाल नामक निग्रहस्थान कहलाता है ॥

अब न्यून का लक्षण कहते हैं -

हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् ॥ १२ ॥ (५२४)

किसी एक अवयव से हीन को न्यून कहते हैं ॥

प्रतिज्ञा आदि पक्ष के साधक पाच अवयव हैं, उन में से किसी अवयव को छोड़ कर स्वपक्षसाधन करने लगना हीन नामक निग्रहस्थान कहलाता है

अब अधिक का लक्षण कहते हैं.-

हेतूदाहरणाधिकमधिकम् ॥१३॥ (५२५)

जिस में हेतु और उदाहरण अधिक हों वह अधिक कहलाता है ॥

जब एक ही हेतु और उदाहरण से कार्यसिद्ध होसक्ता हो तब अनावश्यक अनेक हेतु और उदाहरणों का प्रयोग करना अधिक नामक निग्रहस्थान कहलाता है ॥ अब पुनरुक्त का लक्षण कहते है -

शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् ॥१४॥ (५२६)

अनुवाद को छोड़ कर शब्द और अर्थ के पुनर्वचन को पुनरुक्त कहते है ॥

अनुवाद से अन्यत्र एक शब्द वा अर्थ को वार वार कहना पुनरुक्त नामक निग्रहस्थान कहलाता है ॥ अनुवाद में पुनरुक्त नहीं कहलाता यथा -

अनुवादेत्वपुनरुक्तं शब्दाभ्यासादर्थविशेषोपपत्तेः ॥१५॥ (५२७)

शब्द के अभ्यास से अर्थविशेष की उपपत्ति होने से अनुवाद में तो पुनरुक्त नहीं कहाता ॥

अनुवाद में तो अर्थविशेष की प्रतिपत्ति के लिये शब्दों का पुनर्वचन करना ही पड़ता है क्योंकि विना ऐसा किये अनुवाद की सार्थकता हो ही

नहीं सकती। जैसे-हेतु के अपदेश से प्रतिज्ञा का पुनर्वचन निगमन कहलाता है, अतः अनुवाद में शब्दों की पुनरुक्ति पुनरुक्त दोष नहीं कहलाती।

पुनः पुनरुक्त का ही विशेष लक्षण कहते हैं:-

अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम् ॥ १६ ॥ (५२८)

अर्थापत्ति से सिद्ध का स्ववाचक शब्द से पुनर्वचन पुनरुक्त कहाता है।

" उत्पत्तिधर्मक होने से शब्द अनित्य है " ऐसा कहने से अर्थापत्ति से यह सिद्ध हो गया कि " अनुत्पत्तिधर्मक नित्य है " तब पूर्व वाक्य को कह कर उत्तर वाक्य को कहना भी पुनरुक्त है क्योंकि अर्थबोध के लिये शब्द का प्रयोग किया जाता है, जब अर्थापत्ति से वह अर्थ सिद्ध हो गया, तब उस के प्रयोग की क्या आवश्यकता है? अब अननुभाषण का लक्षण कहते हैं:-

विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्यनुच्चारणमननुभाषणम् ॥ १७ ॥ (५२९)

प्रतिवादी से तीन बार जनाये हुवे का भी उच्चारण न करना अननुभाषण कहलाता है।

प्रतिवादी के तीन बार बतलाने पर भी जो विज्ञात अर्थ का प्रत्युच्चारण नहीं करता, वह अननुभाषण नामक निग्रहस्थान में पड़ता है जब उच्चारण ही न करेगा तो किस के आश्रय से दूसरे के पक्ष का खण्डन करेगा।

अब अज्ञान का लक्षण कहते हैं:-

अविज्ञातञ्चाज्ञानम् ॥ १८ ॥ (५३०)

(प्रतिवादी से तीन बार कहे गये अर्थ को) भी न समझना अज्ञानरूप निग्रहस्थान कहलाता है।

प्रतिवादी के तीन बार बतलाने पर भी जो किसी बात को नहीं समझता, वह अज्ञानरूप निग्रहस्थान में पड़ता है बिना जाने कोई किसी का क्या खण्डन कर सकता है। अब अप्रतिभा का लक्षण कहते हैं:-

उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा ॥ १९ ॥ (५३१)

उत्तर की प्रतिपत्ति न होना अप्रतिभा कहलाती है।

परपक्ष के निषेध को उत्तर कहते हैं, उस की प्रतिपत्ति न होना अर्थात् समय पर परपक्ष खण्डन के लिये उत्तर का न फुरना अप्रतिभा नामक निग्रहस्थान कहलाता है। अब विक्षेप का लक्षण कहते हैं:-

कार्यव्यासङ्गात् कथाविच्छेदो विक्षेपः ॥ २० ॥ (५३२)

कार्य के व्यासङ्ग (फैलावट) से कथा का विच्छेद विक्षेप कहलाता है॥

जहां कार्य को फैला कर कथा का विच्छेद किया जाता है अर्थात् प्रसङ्ग तोड़ दिया जाता है, उसे विक्षेप नामक निग्रहस्थान कहते हैं। जैसे-यह कार्य मुझे अवश्य करना है, इसे पूरा करके फिर प्रकृत विषय पर कहूंगा, तात्पर्य यह कि प्रस्तुत विषय के पूर्ण हुवे विना दूसरे विषय को छेड़ना विक्षेप कहलाता है॥ अब मतानुज्ञा का लक्षण कहते हैं।—

स्वपक्षदोषाभ्युपगमात् परपक्षदोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा॥२१॥(५३३)

अपने पक्ष में दोष स्वीकार करने से परपक्ष में दोष का प्रसङ्ग मतानुज्ञा कहलाती है॥

जो दूसरे के दिये हुवे दोष को अपने पक्ष में मान कर अर्थात् उसका उद्धार किये विना परपक्ष में दोष लगाता है, वह मतानुज्ञा नामक निग्रहस्थान में पड़ता है, दूसरे पर दोष लगाने से अपने दोष का निवारण नहीं हो सक्ता॥

अब पर्यनुयोज्योपेक्षण का लक्षण कहते हैं —

निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्य्यनुयोज्योपेक्षणम्॥२२॥ (५३४)

निग्रहस्थानमें प्राप्त हुवे का निग्रह न करना पर्यनुयोज्योपेक्षण कहलाताहै॥

जो वक्ता निग्रहस्थानो मे से किसी निग्रहस्थान में पड़ गया है उस को यह कह कर निगृहीत न करना कि तू अमुक निग्रहस्थान में आगया है, पर्यनुयोज्योपेक्षण नामक निग्रहस्थान कहलाता है क्योंकि निगृहीत स्वयं अपना पराजय स्वीकार नहीं करता। यद्यपि जय पराजय की व्यवस्था देना सभा या मध्यस्थ का काम है, तथापि यह जतला देना कि अमुक पुरुष अमुक निग्रहस्थान में पड़ा है, वादी प्रतिवादी का ही काम है॥

अब निरनुयोज्यानुयोग का लक्षण कहते हैं।—

अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः ॥ ॥ २३ ॥ (५३५)

जो निग्रहस्थान नहीं है, उस में निग्रहस्थान के अभियोगको निरनुयोज्यानुयोग कहते हैं॥

नहीं सकती। जैसे-हेतु के अपदेश से प्रतिज्ञा का पुनर्वचन निगमन कहलाता है, अतः अनुवाद में शब्दों की पुनरुक्ति पुनरुक्त दोष नहीं कहलाती।

पुन पुनरुक्त का ही विशेष लक्षण कहते हैं:-

अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम् ॥ १६ ॥ (५२८)

अर्थापत्ति से सिद्ध का स्ववाचक शब्द से पुनर्वचन पुनरुक्त कहाता है।

" उत्पत्तिधर्मक होने से शब्द अनित्य है " ऐसा कहने से अर्थापत्ति से यह सिद्ध हो गया कि " अनुत्पत्तिधर्मक नित्य है " तब पूर्व वाक्य को कह कर उत्तर वाक्य को कहना भी पुनरुक्त है क्योंकि अर्थबोध के लिये शब्द का प्रयोग किया जाता है, जब अर्थापत्ति से वह अर्थ सिद्ध हो गया, तब उस के प्रयोग की क्या आवश्यकता है ? अब अननुभाषण का लक्षण कहते हैं:-

विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्यनुच्चारणमननुभाषणम् ॥ १७ ॥ (५२९)

प्रतिवादी से तीन बार सुनाये हुवे का भी उच्चारण न करना अननुभाषण कहलाता है।

प्रतिवादी के तीन बार बतलाने पर भी जो विज्ञात अर्थ का प्रत्युच्चारण नहीं करता, वह अननुभाषण नामक निग्रहस्थान में पड़ता है, जब उच्चारण ही न करेगा तो किस के आश्रय से दूसरे के पक्ष का खण्डन करेगा।

अब अज्ञान का लक्षण कहते हैं:-

अविज्ञातञ्चाज्ञानम् ॥ १८ ॥ (५३०)

(प्रतिवादी से तीन बार कहे गये अर्थ को) भी न समझना अज्ञानरूप निग्रहस्थान कहलाता है।

प्रतिवादी के तीन बार बतलाने पर भी जो किसी बात को नहीं समझता, वह अज्ञानरूप निग्रहस्थान में पड़ता है बिना जाने कोई किसी का क्या खण्डन कर सकता है। अब अप्रतिभा का लक्षण कहते हैं:-

उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा ॥ १९ ॥ (५३१)

उत्तर की प्रतिपत्ति न होना अप्रतिभा कहलाती है।

परपक्ष के निषेध को उत्तर कहते हैं, उस की प्रतिपत्ति न होना अर्थात् समय पर परपक्ष खण्डन के लिये उत्तर का न फुरना अप्रतिभा नामक निग्रहस्थान कहलाता है। अब विक्षेप का लक्षण कहते हैं:-

मोहनिरास -)
ों में महासभा ।)
र्यसमाज क्या है ।=)
र्षिजीवनचरित्र-आह्लादध्वनि -)॥
ष्टनीमन्त्र)॥
ीक्षाकर ≡)
आर्य कलकत्ता =)
आर्य हैदराबाद ।)
तिव्रतधर्मप्रकाश ।।)
शासन्ताप ≡)
तिव्रताधर्ममाला)॥
शुशिक्षा २ भाग -)॥
३ भाग =) ४ भाग ।)
ताचरित्र १ भाग ।-) २ भाग ।-)
भाग ।-) ४ भाग ।-) चारों भाग १।)
रायणीशिक्षा गृहस्थाश्रम उर्दू १।)
मयन्तीस्वयंवरनाटक ≡)
र्णव्यवस्था =)
ाध्याय)॥।
भकुलचरित्रदर्पण ।) वल्लभकुलइति-
ास नाटक ।) हिन्दब्रिटानिया -)
र्गप्राप्ति ≡)
प्रबन्धमञ्जरी ।-)
ठीजनेऊ का विवाह -)
ीतिशतक ≡)
णरत्नमहोदधि १)
तिहासपुराण स्मृति नहीं)॥
अधिकार मीमांसा -)जीवात्मा)॥
कदर्पण)॥

पुरुषसूक्त)॥
स्वामीजी का जीवनचरित्र प्रथम भाग
बढ़िया काग़ज़ ।-) घटिया ।)
हकीकतराय का जीवनचरित्र)॥
आर्याजागृतहो)॥।
गृहचिकित्सा ।) वैदिकधर्मप्रचार ॥।)
एकादशीमहात्म)॥
डेविस की राय)। के २
ऐतिहासिकनिरीक्षण प्र० =) द्वि०भाग≡)
यथार्थसुखासिवर्णन -)॥
यथार्थशान्तिनिरूपण ।)
वीरता पर व्याख्यान -)॥
क़वायदपटवारियान ।)
मार्सडैनहिस्टरी सक्षिप्तअंग्रेजी ।=)

भजनपुस्तकें—

नगरकीर्तन ≡) वनिताविनोद =)
आर्यसंगीतपुष्पावली ।=)
भजन पुस्तक)॥
भजनेन्दु-नयेखड़तालीभजनोसहित-)
रामायण का आल्हा द्वि० भाग)॥
भजनविलास -)
श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्य ।-) बढ़िया ।≡)
ईशोपनिषद्भाष्य -) केनोपनिषद्भाष्य -)॥
कठोपनिषद्भाष्य ।) प्रश्नोपनिषद्भा०।)
मुण्डकोपनिषद्भाष्य ≡) संस्कृतप्रबोध ≡)

निग्रहस्थान लक्षण के निश्चयाभाव होने से जहां निग्रहस्थान नहीं है वहां भी प्रतिपक्षी को निगृहीत करना निरनुयोज्यानुयोग निग्रहस्थान कहलाता है॥

अब अपसिद्धान्त का लक्षण कहते हैं:–

सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात्कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्त ॥२४॥ (५३६)

सिद्धान्त को मान कर अनियम से कथा का प्रसङ्ग करना अपसिद्धान्त कहलाता है॥

किसी शास्त्र के सिद्धान्त को मान कर उस के नियमविरुद्ध कथा का प्रसङ्ग चलाना अपसिद्धान्त नामक निग्रहस्थान कहलाता है। जैसे "सत् का अभाव और असत् का भाव नहीं होता" इस सिद्धान्त को मान कर कोई पुनः यह कहने लगे कि जो पहिले नहीं था वह उत्पन्न हुआ और जो अब है वह विनष्ट होगा इत्यादि अपने सिद्धान्त के विरुद्ध प्रसङ्ग छेड़ना अपसिद्धान्त कहलाता है॥ अब हेत्वाभासों का निर्देश करते हैं:–

हेत्वाभासाश्च यथोक्ता ॥ २५ ॥ (५३७)

यथोक्त हेत्वाभास भी निग्रहस्थान हैं॥

प्रथमाध्याय के दूसरे आह्निक में सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत ये पांच हेत्वाभास वर्णित हो चुके हैं, इस अन्तिम सूत्र में आचार्य ने इन का भी निग्रहस्थानों में समावेश किया है। इन के लक्षण वहीं पर दिखलाये जा चुके हैं इस लिये यहां नहीं लिखे गये॥

इति पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ॥ २ ॥

समाप्तश्चाय ग्रन्थ



सामवेदभाष्य का पूर्वार्द्ध ५।)

☞ मनुस्मृतिभाषानुवाद

बढ़िया कागज १।) तीसरी बार छपा है

दयानन्ददिग्विजयभास्कर का उत्तर

"भास्करप्रकाश" १) साथ बढ़िया १॥)

हितोपदेश भाषानुवाद तथा श्लोक १)

मूर्तिप्रकाशसमीक्षा =) दिवाकरप्रकाश ।)

श्लोकयुक्त वैदिक निघण्टु ॥)

वेदप्रकाश मासिकपत्र के प्रथम भाग

१ वर्ष का ॥=) द्वितीय ॥=) तृतीय ॥=)

७ भाग ॥=) ८ भाग ॥=)

संस्कृत स्वयंसिखाने वाली संस्कृतभाषा

प्रथम पुस्तक)॥ द्वितीय पुस्तक -)

तृतीय पुस्तक =)॥ चतुर्थ ।=) चारों

की पक्की जिल्द ।॥) पक्की जिल्द ।॥)

संस्कृतप्रवेश)॥

ऋगादिभाष्यभूमिकेन्दुपराने

द्वितीयांश: -)॥ शङ्काकोष ।)

व्याख्यानमालिका चतुर्थ भाग मूल्य =)

आल्हा मनु ॥=) चाणक्यनीतिसार -)।

धर्मरत्नाकर ॥)

पोस्टकार्ड बड़े ॥) म ।) ब ।-) सौ

यजुर्वेदभाष्य १६) सत्यार्थप्रकाश १॥)

भूमिका १।) संस्कारविधि ॥)

उणादिकोश ॥) निरुक्त ॥=)

आर्याभिविनय ॥) पञ्चमहायज्ञविधि)॥

चारोंवेदमूल ५) चारोंवेदों

शतपथमूल ४) दशोपनि

शङ्कराचार्य का जीवनचरि

बङ्गाली सत्यार्थप्रकाश १॥

पञ्चकन्याचरित्र)॥ द्रौपदी

विवाह के मन्त्र)।

भागवतविचार -)

नासिकाविष्कार-जिस में

सम्पूर्ण आदि के प्रमाण

विवाहसंयोदर्पण -)

बालविवाहनाटक)॥ अष्ट

आर्यसमाज के नियम नाग

सैकड़ा, अंग्रेज़ी में ।) १०

व्याख्यानका विज्ञापन-जो

खानापुरी करके सब जगह

में आता है =) १०० सैकड़ा

पौराणिकधर्म और विधानो

नागरी रीडर नं० १ मूल्य)। न

सन्ध्योपासन)। १०० का १।)

टके सेर भाजी)॥

भागवतपरीक्षा)॥

१४ विद्या ६४ कला)।

१ दयानन्दसिद्धान्त)॥। अष्टा

आयमनलाशय ।) धातुपाठ ।

सन्ध्योपासनमीमांसा -)

ईसाईमतपरीक्षा)॥

ईश्वरसिद्धि =)॥

अपने पुस्तकों पर १) में ।) और १०) में २) कमीशन छोड़े जायेंगे।

और सब प्रकार की पुस्तकें वैदिक, धार्मिक और लौकिक

सब्बा सकता है पता-तुलसीराम स्वामी-मेरठ